X

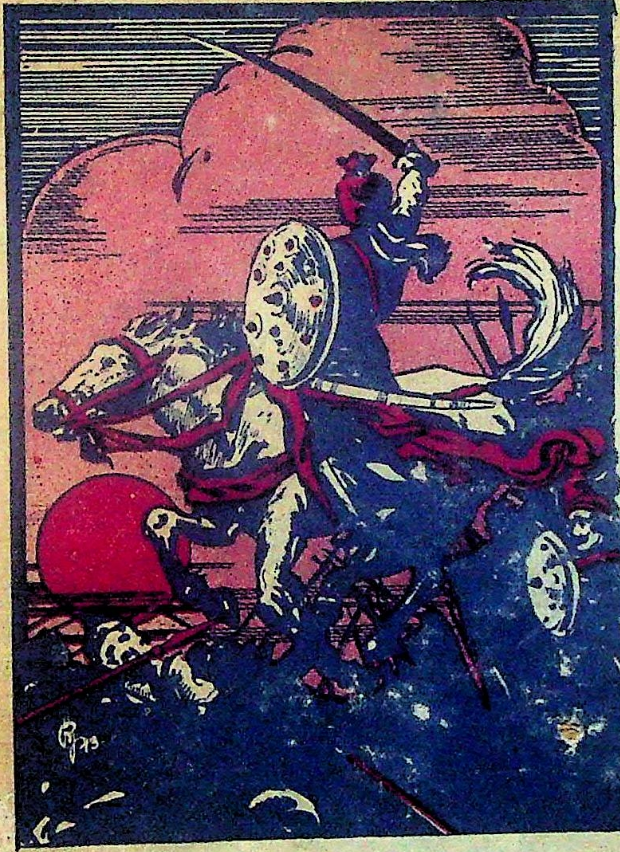

आर्यावर्त

पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'

Aryavarat

आर्यावर्त

[ऐतिहासिक महाकाव्य]

उदय हुआ है रवि दिव्य राष्ट्रधर्म का,
आज राष्ट्रीयता ही श्रेष्ठ आर्यधर्म है ।

Mohan Lall Mahto

रचयिता

पं० मोहनलाल महतो, 'वियोगी'

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

"स्कैन्ड / Scanned"

२००० वि०

ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना

पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'

अपनी ओर से

१९४२ की एक ज्योत्स्नाप्लावित विभावरी। सर्दी की रात और दूध की धोयी निर्दोष चाँदनी। नींद उचट गयी। खिड़की खोलकर देखा—सारा शहर नीरवता की गोद में पड़ा है, दिन भर के कर्म-कोलाहल को अपने सिरहाने रखकर। घर में भी शांति है, बच्चे नींद के पालने पर पड़े-पड़े किसी कहानी-लोक की फूलपरी के उपवन में तितलियाँ पकड़ रहे हैं। अलसित मन से कुछ लिखने बैठ गया। कल्पना कलम की नोक से चुपचाप कागज पर उतरने लगी। मैं अपनी चाँदनी में सराबोर हो गया।

तारे फीके पड़ने लगे, लैम्प का प्रकाश उदास हो गया। प्रभात का पीत-सुधाकर निरीह दर्शक की तरह, एक पहाड़ी की निर्जन चोटी पर खड़ा होकर, ताराओं का नीरव आत्मविसर्जन देखने लगा। मैंने देखा, 'आर्यावर्त' का प्रथम सर्ग समाप्त कर चुका हूँ।

यह १९४२ की जनवरी की बात है। इस तरह बिना किसी समारोह के, अयाचित रूप से, 'आर्यावर्त' मेरे हृदय का एकांत साथी बन बैठा। मैंने इसके रूप में अपने आपको प्राप्त किया। 'आर्यावर्त' के आरंभ और समाप्त होने के बीच में १५–१६ मास का एक विशाल रेगिस्तान फैला हुआ है। इस ऊसर को पार करते समय मैं कितनी बार खिलखिलाकर हँसा, कितनी बार दामन में मुँह छिपाकर रोया, कई घोंसले मैंने बनाये और फिर उन्हें फूँक डाले; पर 'आर्यावर्त' सदा साथ रहा। कह नहीं सकता, कितनी बार इस नीरव साथी का मुँह देखकर मैंने अपने आँसू पोंछे, कितनी बार इसी के चलते अपने प्रति सदय हुआ—संसार में रहने की अपनी सार्थकता का अनुभव किया। ये बातें भावुकता की नहीं हैं—'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।'

घर से बहुत दूर, अपने पुराने परिचित सुख-दुखों से बहुत दूर, मैं यहाँ अकेला पड़ा हूँ। मेरे कमरे की खिड़की के सामने भाग्य-रेखा की तरह सीधी काली सड़क, क्रमशः धुँधली होकर क्षितिज में विलीन हो गयी है। सड़क के दोनों ओर हरे-भरे दिगंतव्यापी मैदान की शोभा है। दोपहरी की धूप चिलमिला रही है—आज गुरुपूर्णिमा है। अब 'आर्यावर्त' से सदा के लिए मेरा

साथ छूटनेवाला है—मैं इसके अंतिम सर्ग की अंतिम पंक्ति लिख रहा हूँ, भगवती विश्वजननी का नाम लेकर।

अपने मन के उजाड़ कोने में मैंने कभी हँसते-हँसते कल्पना की यह नन्हीं-सी बस्ती बसायी थी, जिसे आज रोते-रोते मुझे अपने हृदय से अलग करना पड़ रहा है। संतोष है कि अकाल जलद का यह जलकण सागर में मिलकर अपने अस्तित्व को अमर करने जा रहा है। मैं आज अकेला हो गया, सो भी दूर देश में—हरि इच्छा !

अब मैं अपने जीवन के कुछ पवित्र धरोहरों को सस्नेह स्मरण करता हूँ। यदि इन महानुभावों से मुझे प्रगति न मिलती, तो 'आर्यावर्त' मेरे जीवन से लिपटा हुआ भव-सागर के पार हो जाता !

मैं सबसे पहले 'अपनी गुदड़ी के लाल' का नाम लूँगा—श्री नारायणलाल कटरियार। मेरा 'नारायण' विहार के नवयुवक कलाकारों में एक रससिद्ध तरुण कवि है। इसके बाद मैं बहुत ही झिझकता हुआ श्री पन्नालाल महतो 'हृदय' का नाम लूँगा। 'हृदय' विहार के वर्तमान कविता-साहित्य का हृदय है। ऐसे तेजस्वी कलाकारों के 'भैया' बनने का गौरव मुझे परमात्मा ने दिया है।

अब मैं आदर से सिर झुकाकर भाई वनविहारीप्रसाद वर्मा (भूप बाबू) का नाम लेता हूँ। भूप बाबू लाखों की विशाल सम्पत्ति को खिलौना समझकर तोड़ते और जोड़ते रहते हैं—मैं इनका मित्र सुदामा हूँ और मेरे हैं ये वनविहारी कृष्ण। मैं 'शून्य' हूँ और ये 'अंक' बनकर मुझे सदा सार्थक बनाये रखते हैं। इनसे भिन्न मैं अपना कोई मूल्य नहीं आँक सकता।

मैं अपने इन पूज्य त्रिदेवों के सम्मुख नतमस्तक हूँ। हे भगवान्! यदि ग्रंथमाला-कार्यालय के स्वामी भाई देवकुमार कागज की इस भयानक महँगी की साहसपूर्ण उपेक्षा न करते, तो मेरे 'आर्यावर्त' का क्या हाल होता—!!

ग्रीन होटल, अंबाला छावनी
श्री गुरुपूर्णिमा २००० वि०

—मोहनलाल

भूमिका

परिचय

'आर्यावर्त' हिन्दी में सर्वप्रथम अमित्राक्षर छन्द का मौलिक महाकाव्य है जिसे एक बिहारी कवि ने साहित्य-देवता के सामने रक्खा है। बार-बार की आवृत्ति से यह छन्द अमन्द आनन्द दान करता है और इसमें अर्थ की पूर्णता पर अनायास ही विश्राम हो जाता है।

'आर्यावर्त' के बड़े से छोटे तक सभी पात्र अपने आर्य होने का अभिमान करते हैं, आर्य-भूमि की रक्षा में प्राण होम करने को उद्यत रहते हैं, आर्य-धर्म की रक्षा में प्रयत्नशील होते हैं और आर्य होना, आर्य भूमि तथा आर्य-धर्म ही उनका जीवन-मरण है। अतः, इस महाकाव्य का 'आर्यावर्त' नाम यथार्थतः सार्थक और सुसंगत है।

क्या कभी कोई ऐसी कल्पना कर सकता था कि 'निर्माल्य' और 'एकतारा' का प्रसिद्ध छायावादी कवि मोहनलाल महतो 'वियोगी' अपनी कोमल कल्पनाओं और अमूर्त भावनाओं को प्रसादगुणविशिष्ट तथा नानालंकारों से अलंकृत करके 'आर्यावर्त' के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होंगे ! किन्तु आज सुन्दर स्वप्न सत्य हो गया।

उचित तो यह है कि चाँद की तरह चाँदनी की चाँदनी ताननेवाले, बादल की तरह सरस रस बरसानेवाले और दधीचि की तरह दान करनेवाले कवि को हम अपनी कृतज्ञता की कुसुमांजलि भेंट दें, उसकी पूजा करें। किन्तु यहाँ उलटी चाल है। हम दान में मिले हुए अलंकारों को कसौटी लेकर जाँचने लगते हैं, खरे-खोटे होने की परख करने लगते हैं और इसी में दानी के उच्च, पवित्र और भव्य भावनाओं को भूल जाते हैं।

हम मानते हैं कि जो साहित्य के प्रहरी हैं, वे योग्य व्यक्ति को ही मातृ-मन्दिर में चरण रखने देंगे। किन्तु उन्हें 'हू कम्स देअर' (Who comes there) की जगह 'हुकुम सदर'

कहनेवाला न होना चाहिए। इससे प्रहरी की प्रतिष्ठा हो जा सकती है, पर पूजा करनेवाले का मन, यदि उसकी श्रद्धा अचल न हुई, उसका विश्वास अटल नहीं रहा, तो बैठ जाता है—उत्साह भंग-सा हो जाता है।

सत्य तो यह है कि मन में पूजा का संकल्प होते ही मानस-देवता की पूजा हो जाती है। दिखाऊ पूजा—अक्षत, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि का दान, स्तोत्र-पाठ आदि—बाकी रह जाती है तो इससे सच्चे पुजारी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यह तो दर्शकों के लिए वाह्याडम्बर मात्र है।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि 'आर्यावर्त' के कवि ने भगवान के लिए, साहित्य-देवता के लिए ही पूजा की है और भाव-विभोर होकर काँटा, फूल, पत्ता, जो कुछ उसके हाथ लग सका, उसे वैसे ही 'अम्बार्पणमस्तु' कहकर निश्चिन्त हो गया, जैसे कि प्राचीन कवि दास यह कहकर—

"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

और, यही नहीं। यशस्वी महाकवि मैथिलीशरण गुप्त की निम्न-पंक्तियों की भाव-भावना भी उसके अन्तरंग में भरी हुई है जो आप ही आप फूटी पड़ती है :

न तन-सेवा न मन-सेवा, न जीवन और धन-सेवा।
मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन-सेवा॥

हमें विश्वास है, साहित्य-संसार उसकी इस भक्ति-भावना का समुचित समादर करेगा।

'आर्यावर्त' महाकाव्य है

पूर्वाचार्यों ने महाकाव्य के जितने लक्षण बतलाये हैं, उनका समन्वय अधिकांशतः इस महाकाव्य में हो जाता है। तथापि संभव है, बाल की खाल निकालनेवाले सर्वांशतः समन्वय न होने के कारण इसे महाकाव्य न मानें। किन्तु, हम तो कुछ लक्षणों की असंगति होने पर भी इसे महाकाव्य मानते हैं और सहृदय साहित्यिक भी इसे वैसा ही अवश्य मानेंगे।

सर्गबद्ध बड़ा-सा पद्य-ग्रन्थ लिख देने से ही वह महाकाव्य नहीं हो जाता, और न महाकाव्य के लक्षणों का सावधानी से किसी पद्य-ग्रन्थ में निर्वाह कर देने से ही वह महाकाव्य हो जाता। महाकाव्य होने के लिए चाहिए देश, काल और चरित्र का विस्तार तथा काव्य-सम्पत्ति। काव्य-सम्पत्ति के कारण ही प्राचीन साहित्यिक मेघदूत को खण्ड-काव्य होने पर भी उसे महाकाव्य का महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवास की एक ही मुख्य घटना में सारे काव्य की इति-श्री हो जाने से लक्षणतः खण्ड-काव्य होने पर भी 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य की श्रेणी में जा सकता है। ऐसे तो कितने ही लाक्षणिक 'साकेत' के भी महाकाव्य होने में संदेह करते हैं।

हमारे मत में आचार्यों के जो लक्षण-ग्रन्थ हैं, वे उनके समय तक बने हुए काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों आदि पर ही निर्भर करते हैं। कवियों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत कर दीं, उन्हीं को श्रेणीबद्ध करके, उनमें उपलब्ध सामग्री को दृष्टि में रखते हुए, आचार्यों ने लक्षण बना दिये और उनका पालन होने लगा। जैसे भाषा की सृष्टि होने पर उसके व्याकरण बनते हैं वैसे ही ये लक्षण-ग्रंथ भी बने हैं। संस्कृत-ग्रंथों की-सी उनकी संगति हिन्दी-सी जीवित भाषा के काव्यों में संभव नहीं। अब समय आ रहा है या आने ही वाला है जब कि आज के बने हुए काव्यों के वर्ण्य विषयों को लक्ष्य में रखकर ही लक्षण-ग्रन्थ बनेंगे। उस समय 'आर्यावर्त' ऐसे काव्यों को महाकाव्यों के अंतर्भुक्त होना विवाद का विषय नहीं रह जायगा।

एक बात और। 'आर्यावर्त' का कवि भावुक होने के साथ-साथ साम्यवादी विचार का है। उसके निबन्ध, कहानियाँ और कविताएँ इसके प्रमाण हैं। इससे वह प्रगतिवादी की श्रेणी में आता है। प्रगतिवादी इस अर्थ में कि वह नवीन विचारों का प्रचारक है, गतानुगतिकता का विरोधी है और प्राचीन परिपाटी का प्रतिगामी है। श्रमिकों और किसानों का पक्ष-समर्थन तथा यथार्थवाद वा वास्तववाद की व्याख्या ही केवल प्रगतिवादिता वा प्रगतिशीलता नहीं, बल्कि मुख्यतः अनुकरणशीलता का अभाव और गतिविमुखता का तिरस्कार है। इस दृष्टि से 'आर्यावर्त' प्रगतिवादी महाकाव्य कहा जा सकता है। क्योंकि, इसके पढ़ने पर हमारी मनःस्थिति एक अलौकिक लोक में पहुँच जाती है और हममें एक अभूतपूर्व नवजीवन का संचार हो जाता है। नवसंदेश के दृष्टिकोण से देखने पर कोई भी काव्य भाव-पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से अपना अत्यंत महत्व रखते हुए भी 'आर्यावर्त' की समकक्षता नहीं कर सकता। यह एक सत्य है। संभव है, सहृदय-समाज मेरी उक्ति को अतिशयोक्ति मान बैठे।

हाँ, तो 'आर्यावर्त' एक सजीव महाकाव्य है; क्योंकि हमें वह जीवन की गरिमा का एक नया परिचय देता है। जब कर्तव्याकर्तव्य के मोह से घन-घटाच्छन्न आकाश-सा हमारा अन्तःकरण आच्छन्न हो जाता है तब हमारे कर्ममय रूप में अचलता आ बैठती है। हम स्थिर होकर हृदय-मंथन की स्थिति में प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर और बाहर को घेरकर अचल अन्धकार हमारी समस्त कर्मशील भावनाओं को विपथगामिनी बना डालने का उपक्रम करता है। मानव-जीवन की वह घड़ी सबसे खतरनाक होती है। अर्जुन को ऐसा ही मोह उत्पन्न हुआ था। कुरुक्षेत्र के मैदान में पहुँचकर महायोगीश्वर श्रीकृष्ण को गीता की ज्योति जगाने की आवश्यकता पड़ी थी। सत्य का प्रकाश ही मानव को कर्मवीर बना सकता है।

काव्य का कथानक

पहले सर्ग में महाकाव्य की पूर्व-पीठिका के रूप में उदास संध्या का वर्णन है। भारत की स्वाधीनता के सूर्य को अपने भीतर छिपा लेनेवाली वह पहली संध्या थी। काव्य के प्रारंभ में

ही युद्ध-ज्वाला की लपट से बचे हुए दो हताश आर्य-योद्धाओं के दर्शन देवी-मण्डप में होते हैं। इनमें एक है महाकवि चंद और दूसरा है राणा समरसी। दोनों ही श्रान्त, क्लान्त और आहत ! दोनों युद्ध-सम्बन्धी संलाप करते हैं। पुनः चंद महाराज पृथ्वीराज के अनुसंधान में युद्ध-भूमि में जाता है।

दूसरे सर्ग में इधर अंतर्ज्वाला से जलता हुआ जयचंद गोरी के दरबार में पहुँचता है और बंदी की दशा में पृथ्वीराज उपस्थित किये जाते हैं। वहाँ जयचंद को देखते ही उनके मुँह से धिक्कारवाणी निकलती है और गोरी उनकी आँखें फोड़ने की आज्ञा देता है। यह सुनते ही पृथ्वीराज लौह-शृङ्खलाओं को तोड़कर दर्पोक्ति के साथ जो समर छेड़ देते हैं, उससे उनके असम साहस का पता लगता है और सभी की साँसें रुक जाती हैं। फिर शेर के समान फँसाकर पृथ्वीराज की आँखें फोड़ दी जाती हैं और साथ ही भारत का भाग्य भी फूट जाता है।

तीसरे सर्ग में उधर कवीन्द्र नरेन्द्र को ढूँढ़ता युद्धका भयानक और हृदय-द्रावक दृश्य देखता है। वहाँ से वह वीरगति पाये वीरों का स्मरण करता हुआ विकल, विवश और निराश हो देवी-मण्डप में पुनः लौट आता है। यहाँ कवि चंद करालिका काली के पदों पर मृत पड़े हुए समरसी को देख आहत और क्षुब्ध हो, जगदम्बा के नाते उसे कोसता है। इसी समय एक अघटित घटना घटित होती है और देवी से क्षमा माँगता हुआ कवि चंद समरसी के शव को समरक्षेत्र में ले जाकर प्रस्तुत चिता में अग्नि को सौंप देता है।

चौथे सर्ग में जयचंद के सुसज्जित और गीत-वाद्य से मुखरित मजलिस में वृद्ध चारण आता है और भयानक स्वप्न का वर्णन करता है। सभा की सभा विषाद और करुणा के अपार पारावार में निमग्न हो जाती है। आत्महारा जयचंद उपवन में रात भर संचरण करता है और प्रभातप्राया रात्रि में उसकी अलसायी आँखें बंद हो जाती हैं। वह स्वप्न में पृथ्वीराज की रौद्र मूर्ति देखकर चीख उठता है। पुनः वह अपने एकांत महल में आकर अपने अधम कृत्य का विश्लेषण करता हुआ कहता है—'धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीर का।'

पाँचवें सर्ग में सजी-धजी हस्तिनापुरी पृथ्वीराज़ के स्वागत की प्रतीक्षा कर रही थी। इसी समय कवि चन्द ने अधीर और अशान्त हो अपने सुन्दर भवन में कविरानी के साथ प्रवेश किया। वह कविरानी को समर का शोकजनक समाचार सुनाकर किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। कविरानी ढाढ़स बँधाती है। कवि ने अपने पुत्र जल्ह को महाकाव्य—'पृथ्वीराज रासो' का शेषांश पूर्ण करने का भार सौंप सरस्वती से क्षमा-विदा माँगी और नाश के खेल खेलने में खुलकर लग गया। कविरानी महारानी को समाचार सुनाने के लिए अम्बा के मंदिर में जा पधारीं।

छठे सर्ग में कवि प्रलय-गान गाने के लिए सरस्वती की प्रार्थना करता है। मन्दिर में महारानी मङ्गल-कामना से महामाया की आराधना में निमग्न हैं। कविरानी पहुँचकर पूजा समाप्त होने की प्रतीक्षा करती है। महारानी ने आर्य जाति के महानाश का समाचार सुन विकल और

व्यथित होने पर भी धैर्य नहीं छोड़ा। उन्होंने कविरानी से कवि को कहलाया कि वे अब अपनी वाणी से ज्वाला भड़काएँ और मैं स्वयं शत्रुओं से मोर्चा लूँगी। इसके बाद तो दिल्ली में आर्य-सेना की पराजय का हाहाकार मच गया। सभी हताश-से हो गये; किन्तु सभी के चित्त में स्वतंत्रता की चिंता चक्कर काटने लगी।

सातवें सर्ग में महारानी मन्त्रणागृह में मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने में निमग्न हैं। युद्ध के निश्चय से सभी में स्फूर्ति का संचार हो आया और उन्होंने शत्रु-संहार के लिए कोषों से करवाल खींच महारानी की जयजयकार के साथ राजभक्ति की शपथ ली। कवि चंद ने महारानी का पत्र ले जाकर जयचंद को सुनाया। उसने ग्लानि से गलकर पश्चात्ताप करते हुए पृथ्वीराज के जीते रहने और आँखें फोड़ी जाने का समाचार सुनाया। उसने देश की बेड़ियाँ काटने की प्रतिज्ञा की। कवि चंद हर्ष-शोक का भाव लिये जब दिल्ली लौटा, तब उसे सैनिक-शिविर के रूप में परिणत पाया, जहाँ भारतेश्वरी की प्रार्थना से देश-देश के राजे-महाराजे आर्यध्वज की छाया में एकत्रित थे।

आठवें सर्ग में गोरी का एक गुप्तचर गुप्त संवाद लेकर घोड़ा फेंकता हुआ मृतप्राय-सा होकर पहुँचा और गोरी के समक्ष लाया गया। उसने महारानी के युद्धोद्योग का सारा समाचार सुनाया। गोरी इस संवाद को सुनकर सन्न हो गया और दूत ने अंतिम साँस ली। गोरी ने जयचंद को कायर करार देते हुए महारानी की संगठन-शक्ति की प्रशंसा की; उसने पृथ्वीराज को गजनी भेजने का स्वयं संवाद दिया और मातृभूमि से दूर भेजने के लिए क्षमा माँगी।

नवें सर्ग में महारानी की सुसज्जित सेना समर के लिए अग्रसर हुई और यह संवाद पाकर भयभीत होते हुए भी गोरी महारानी के दूत को निराश लौटाकर अपने वीर सिपाहियों को साहस देता हुआ युद्ध के लिए सन्नद्ध हुआ। यहाँ के घोर युद्ध का वर्णन रोंगटे खड़े करनेवाला है। गोरी और जयचंद की समरभूमि में भेंट होती है और विकट युद्ध करता हुआ जयचंद दूरागत बाण से विद्ध होकर धराशायी हो जाता है। यह देख आर्य-सेना ने गोरी की सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया और आर्यों की जयजयकार आकाश में गूँजने लगी।

दशवें सर्ग में महारानी की छावनी अनेक उल्काओं से आलोकित है। जयचंद के पश्चात्ताप और विकल वाणी से सभी कातर होते हैं और वह आर्य भूमि से क्षमा माँगता हुआ भव-भार से मुक्त हो जाता है। गोरी के भागने और सम्राट् का पता न लगने से सभी उन्हें बंदी समझ अपने को भी बंदी समझते हुए चिंतित होते हैं। कर्मवीर कवि हतचेत हो अपने शिविर में बैठा आकाश-पाताल सोच रहा है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अंबिका का स्मरण करता हैं और ध्यान में निमग्न हो पृथ्वीराज को ढूँढ़ निकालने का प्रशस्त पथ पा लेता है।

ग्यारहवें सर्ग में कवि गिरिशिखर पर बैठा हस्तिनापुर गामिनी पंक्तिबद्ध सेना के आर्यध्वज को प्रणाम करता है। देखते-देखते दिन, मास, ऋतु, वर्ष बीते और उधर गोरी के नगर में एक फकीर का प्रतापादित्य अपना प्रकाश फैलाने लगा। महामंत्री ने सुलतान को खबर दी और सुलतान

फकीर के पैरों पर लोटता दिखाई पड़ा। शाह के हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला भड़क उठी। अंधा सुलतान शाह के मुख पर हर्ष-क्रोध की बारी-बारी से लहराती लहरों को लक्ष्य न कर सका। शाह ने गोरी की अभिलाषा कह दी और राजा की भाग्य-गणना के लिए आज्ञा प्राप्त कर ली, जिससे उसकी विजय-यात्रा हो।

बारहवें सर्ग में शाह-फकीर बना हुआ कवि चंद कुंभीपाक नरक के-से कारागार में पृथ्वीराज से मिलकर अपना परिचय देता है और युद्ध का सारा समाचार सुनाता है। पुनः प्रसन्न पृथ्वीराज से सारी व्यवस्था करके कवि चंद गोरी के वजीर के पास आता है और उसके मन लायक बातें करके मन-मन भर के सात लोहे के तवे को एक ही बाण में तोड़ डालने की विद्या पृथ्वीराज से सीखने का प्रस्ताव करता है। गोरी सहमत होता है। तवा तोड़ने के साथ तरह-तरह की अफवाहें फैलती हैं। पृथ्वीराज को सभी देखकर दंग रह जाते हैं। शाहजी भी आते हैं।

तेरहवें सर्ग में अशांत जन-समुद्र के बीच उच्च मंडप में बैठे गोरी की आज्ञा से बन्धन-मुक्त पृथ्वीराज के हाथों में जयचंद से उपहार में मिला हुआ कठिन धनुष दिया गया। प्रत्यंचा चढ़ाकर पृथ्वीराज ने वाण संधाने और कान तक खींचकर ऐसा वाण मारा कि सातों तवे तड़ातड़ टूट-फूट गये। साथ ही सुलतान के मुँह से वाह-वाह का शब्द निकलते ही दूसरे वाण ने उसे भी धराशायी कर दिया। चारों ओर हाहाकार मच गया और इधर शाह ने दो तलवारें निकालीं और दोनों आपस में कट मरे। महारानी और कविरानी ने अपने प्राणपतियों को भारत-वसुन्धरा की गोद में प्रसन्न-वदन देखा और जल्ह ने इसी समय महाकाव्य की अंतिम पंक्ति लिखी।

ऊपर के तेरह सर्गों में नाना प्रसंगों को लेकर कविताकामिनी ने कल्पना के बल वह कमनीय रूप धारण किया है कि उसके रूप-रंग और हाव-भाव पर किसका मन मोहित न हो जायगा। वह कविता खरस्रोता की-सी गतिशालिनी है, निर्झर-सी झर-झर झरती है, चटकीली चाँदनी-सी हँसती-मुस्कुराती है, और वह निराला के शब्दों में "कवित्व निरर्गल किसी महाकवि कलित कंठ से झरता था जैसे अविराम कुसुमदल।"

‘आर्यावर्त’ के पुरुष पात्र

कवि चंद

महाकवि चंद ‘आर्यावर्त’ का सबसे मुख्य पात्र है। कारण यह कि वही इस महाकाव्य का नायक है। आज तक किसी भी महाकाव्य का प्रधान चरितनायक किसी महाकवि को बनते नहीं देखा गया। किन्तु इससे क्या ? हमारे चरितनायक की महानता इस महाकाव्य को महाकाव्यत्व की उपलब्धि करा रही है और चरितनायक के उज्ज्वल चरित्र की जगमगाहट महाकाव्य को प्रकाशपूर्ण बना रही है। हमारा चरितनायक किसी ‘सद्वंशः क्षत्रियो वापि’ से किसी अंश में कम नहीं

है। 'आर्यावर्त' में कवि चन्द कवि चन्द के रूप में नहीं, महावीर और महाआर्य के रूप में आया है और कवि ने इसी रूप में अपने चरितनायक को चित्रित भी किया है।

'आर्यावर्त' का कवि कहता है :—

कवि चंद बैठा है समक्ष महारानी के
मानो रुद्र तेजोमय वीरभद्र बैठा हो
सेवा में भवानी के—प्रभावपूर्ण दृश्य है

चंद सबसे पहले पराजित योद्धा के रूप में हमारे सामने आता है। हमारे हृदय में उसकी दशा देखकर दया का उदय हो सकता है; पर कवि ने अपने पात्र को दयनीय नहीं बनने दिया। 'आर्यावर्त' का पराजित प्रधान चरितनायक सदा एक कर्मवीर के रूप में ही हमारे सामने रहा। उसका सिद्धान्त है :—

कर्महीन आलस्य का नाम ही तो सुख है
सुख कर देता है विलग कर्तव्य से,
कर्मवीर लात मारते हैं रिक्त सुख को।

चंद भग्नदूत के रूप में घर लौटता है। 'आर्यावर्त' के कवि ने यहाँ पर अपने चरितनायक के मन में थोड़ा सा मोह भी दिखाया है। चंद के महाकाव्य (पृथ्वीराज रासो) का शेष सर्ग लिखना बाकी है। इसी मोह से महाकवि चुपचाप घर लौट आता है। चन्द के आने का वर्णन कवि इन ओज भरे शब्दों में करता है :—

आया चन्द इस भाँति, मानो चोट सहके,
कुचले हृदय से सिंह लौटा निरुपाय हो,
अपनी गुफा में गुर्राता, दाँत पीसता।

'आर्यावर्त' का चरितनायक एक महायुद्धकाव्य का चरितनायक है। उसको इस्पात का बना होना चाहिए। कवि ने उसे आदि से अंत तक ऐसा ही बना रहने दिया। कल्पना का एकच्छत्र राजा महाकवि चन्द अपने संवेदनशील हृदय का उद्‌गार प्रकट करता है तो उसका हृदय जरा-सा हिल जाता है; परन्तु करुणा की वह एक नन्हीं-सी बूँद रोष की महाज्वाला में तत्काल गिरकर कैसे विलुप्त हो जाती है, उसका पता लगाना सहज संभव नहीं। कवि चंद कविरानी से कहता है :—

आज आर्यसत्ता का प्रताप मिला धूल में,
डूब गया सहसा दिवाकर समर के
आँगन में—लुट गया गौरव स्वदेश का।
किस भाँति कैसे कहूँ वाणी भी विरत है
आर्यपति पृथ्वीराज आज शेष हो गये।

जब सजी-सजायी दिल्ली समर-विजयी वीरों की आरती उतारने को उद्यत थी, तब कवि अपनी आर्य-जननी की पराधीनता की याद में विचलित होता है; पर पुन: उसमें आग भड़क जाती है। वह तनकर बैठ जाता है और राजधानी दिल्ली से कहता है :—

कह दो इसे हे "राजलक्ष्मी, फेंक आरती
आगे बढ़ो लेकर कृपाण क्रुद्ध चंडी-सी।
त्यागो यह भुवन-विमोहिनी मधुरिमा,
दूर फेंको कंकण उतार फेंको किंकिणी,
धो दो अंगराग यमुना की शान्त धारा में।
आँचल उतार के कसो माँ, कटितट में
कूद पड़ो भूखी सिंहिनी-सी मृग झुंड में।"

स्नेह-गद्गद कंठ से कवि चंद कहता है :—

पुत्र जल्ह चिंता मिटी, भार-मुक्त हो गया।
लेखनी सम्हालो तुम लूँगा तलवार मैं,

भगवती भारती से कवि कहता है :—

मातः, आज होता हूँ विरत पद-सेवा से।
धधक रही है आग मेरी मातृभूमि में
कैसे मैं बजाऊँ बीन बैठकर अम्बिके!
दम घुटता है भरा धूँआ घट-घट में।

× × ×

अब तो प्रवेश करना है महाकाल का,
फाड़कर हृदय असनि जिस वेग से
करता प्रवेश है विदीर्ण कर गिरि को।
वत्स जल्ह, अब खेलता हूँ खुल नाश से
खेलो तुम भारती की स्नेहमयी गोद में।

कवि चंद के मुँह से जो कुछ कहलाया गया है, वही ध्वनि-प्रतिध्वनि चिरंतन है। ये बातें कवि चंद तक ही सीमित नहीं समझनी चाहिए। 'आर्यावर्त' के कवि ने एक महाकवि के मुँह से ही हमारे वर्तमान और भावी कवियों को एक जीवनमय संदेश दिलवाया है।

सुभट समरसी ने कवि चंद के युद्ध का प्रारंभ ही में एक चित्र खींचा है, जिससे महाकवि की महावीरता प्रकट है :—

तुमने नहीं क्या वीर! भगदड़ मचायी थी
शत्रु के सिपाहियों में प्रबल प्रहारों से?

कौन था समर्थ जो खड़ा हो एक क्षण भी
सम्मुख तुम्हारे घोर वज्राघात वाणों के?

महाकवि महावीर की भाँति ही महावीर पृथ्वीराज के साथ ही महामृत्यु का भी यों आलिंगन करता है :—

चमक उठीं दो क्षणदाएँ क्षण भर में,
नीचे गिरे दोनों वीर कटकर साथ ही।

कह आये हैं कि कवि ने महावीर ही के रूप में केवल नहीं, महाआर्य के रूप में भी उसे चित्रित किया है। 'आर्यावर्त' के आर्यों को अपने आर्य होने का जितना गौरव है उससे कहीं अधिक महाकवि को है। वह कहता है :—

आर्य—मैं हताश नहीं हूँगा और अंत तक
जूझूँगा—करूँगा प्रतिपाल आर्य-धर्म का।

× × ×

उदय हुआ है रवि दिव्य राष्ट्र-धर्म का
आज राष्ट्रीयता ही श्रेष्ठ आर्य-धर्म है।

हर्ष और शोक की साम्यावस्था में वर्तमान कवि चन्द चिन्ता की उत्ताल तरल तरंगों में तड़पता महामाया से अनुनय-विनय करता है :—

राष्ट्रधर्म पूरा हुआ अब आर्य-धर्म मैं
पालन करूँगा—मुझे सत्य का प्रकाश दो।
उचित यही है सुख सौंपकर अपना
प्रिय आर्यभूमि को, मैं खोजूँ सम्राट् को।

कवि चन्द को इस बात का अभिमान है कि आर्य कभी बन्दी होते ही नहीं। यह तो दैव-दुर्विपाक है।

पृथ्वीराज पद से भले ही सम्राट् हों,
किन्तु जाति से हैं 'आर्य' और किसी काल में
आर्य नहीं बंदी बने—कैसी दैव-लीला है।

वह एक भी वंदनीय आर्य का बंदी बना रहना राष्ट्र का अपमान समझता है और कहता है :—

आज एक श्रेष्ठ आर्य बंदी है बना हुआ
कायर अनार्यों के घृणित कारागार में।
यह तो समस्त राष्ट्र का ही अपमान है।

वह इस कलंक-कालिमा को धो देना चाहता है। वह बंदी की भी मनःकामना को समझता

है ; क्योंकि दोनों के अन्तरंग एक हैं। दोनों महावीर हैं। दोनों वीरों की मौत ही मरना चाहते हैं। इसीसे वह निश्चय करता है :—

किन्तु बल-कौशल से जिस भाँति हो सके,
मुक्त मैं करूँगा महाराज पृथ्वीराज को,
मुक्त कारागार से या मुक्त भव-पाश से।
दोनों भाँति आर्यों का कलंक धुल जायगा।

यह उग्र राष्ट्रीयता का दिल दहलानेवाला एक चित्र है। पृथ्वीराज को बंदीखाने से मुक्त करने को वह तुल गया है, वह मुक्ति चाहे शरीर की हो या आत्मा की। वह शारीरिक मुक्ति राजा को न दिला सका। अंत में दोनों तलवारों पर खेल जाते हैं।

चन्द पृथ्वीराज का आश्रित, सखा और साथी था। फिर भी चन्द ने कठोर आर्य-धर्म का ही इस प्रकार पालन किया। उस समय के लिए सबसे सुंदर और महान् मित्र-धर्म यही था।

इसी भाँति चरितनायक के चरित्र की उज्ज्वलता में करुणा का कहीं भी धब्बा लगने नहीं दिया गया है। जैसे-जैसे कथा का विस्तार होता गया है वैसे-वैसे एक से एक उज्ज्वल रत्न आगे आते गये हैं।

महाकवि चन्द की उक्तियों में 'आर्यावर्त' के कवि की आशावादिता फूटी पड़ती है। उसकी आशा के अंचल के ओर-छोर का आदि-अन्त नहीं। जब समरसी अमरलोक को प्राप्त करता है, तब कवि चंद उनका अंत्येष्टि-संस्कार करने के लिए फिर युद्ध-भूमि में जाता है। टूटे हुए धनुषों, बाणों और भग्न रथों से चिता रचता है। युद्ध-भूमि से लाये हुए आर्यध्वज में राणा की देह को लपेटकर चिता पर लिटा देता है। एक पत्थर और टूटी हुई तलवार के घर्षण से अग्नि प्रकट कर चिता को सुलगाता है। जब चिता भभक उठती है, तब कवि कुचले हृदय से कहता है :—

आशा है तुम्हारे इस दीप्त चितानल से,
कोटि-कोटि आर्यवीर तुमसे भी विक्रमी,
होंगे कभी प्रकट, कृपाण लिये कर में।

× × ×

एक भी रहेगा शेष यदि आर्य जग में
आर्य-भूमि रह सकती है नहीं हाय रे!
इस भाँति लांछित, दलित हत-ओज-सी।

चंद्र-जैसे धीरोदात्त नायक का दौत्य कार्य करना प्राचीन साहित्यिकों की दृष्टि में दूषित समझा जा सकता है, तथापि नल का दौत्य कार्य देखकर हम उसे दूषित नहीं कह सकते। क्योंकि, दोनों के ये दौत्य कार्य उनके नाम, गुण और यश के विस्तारक ही हैं। एक देशोद्धारक है तो दूसरा सर्वप्रिय वस्तु का त्याग करनेवाला। आज भी तो नायक क्या महानायक, वह काव्य का

भले ही न हो, सात समुद्र पार कर अपना अभीष्ट सिद्ध करता है। इससे उसकी महानता और माननीयता में कुछ भी तो बट्टा नहीं लगता।

'आर्यावर्त' के कवि ने चन्द के मुख से जो संदेश दिलाया है, वह युग-विशेष के लिए ही नहीं है। इस संदेश का जीवन किसी विशेष अवसर के उपस्थित हो जाने पर समाप्त भी नहीं हो जायगा। इस महामहिमामयी भूमि के पुत्र हैं 'आर्य'; और जब तक आर्यभूमि तथा आर्य वर्तमान हैं तब तक यह ज्वालामय संदेश भी अपनी जगह पर हिमालय-सा अटल है।

'आर्यावर्त' केवल अतीत का दुर्द्धर्ष चित्र ही हमारे सामने उपस्थित नहीं करता; बल्कि भविष्य का भी एक ज्वालामय रूप उसमें से फूटा पड़ता है। धधकती हुई आग से पानी की बूँदें नहीं निकला करतीं; बल्कि आँखों को चौंधियानेवाली चमकदार चिनगारियाँ ही छूटती हैं। कवि ने समरसी के चितानल से आर्य-वीरों के प्रकट होने की जो कामना की है, वे वीर जल के शीतल कण न होकर आग की चिनगारियों के रूप में ही होंगे। इसीसे 'आर्यावर्त' एक प्राणमय और ओजमय महाकाव्य कहा जा सकता है।

स्वयं इसका कवि प्रारंभ में अपनी इष्टदेवी से हाथ जोड़कर यही वरदान माँगता है:—

'सफल बना दो! यह ज्वालामयी साधना'

पृथ्वीराज

प्रथम-प्रथम पृथ्वीराज पराजित के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। चंद ने समरभूमि में महाराज के महागज की जो दुर्दशा देखी थी, उनके भग्न धनुः-खण्ड को खंड-खंड हुआ जो देखा था, उससे अनुमान किया था कि कितना विकराल युद्ध करके वीरकेशरी विवश हो, निःशस्त्र की अवस्था में मारा या पकड़ा गया होगा।

पृथ्वीराज प्रबल पराक्रम के प्रतीक थे। उनका अप्रतिभ प्रताप प्रखर सूर्य का-सा शत्रुओं को असह्य था। वे गोरी के दरबार में जब आये तब लौह शृंखलों में जकड़े करिराज और पिंजरबद्ध पञ्चास्य-से प्रतीत होते थे। कवि कहता है:—

भारत का पूंजीभूत गौरव-सा केसरी
दीख पड़ता था खड़ा मूर्तिमान काल ज्यों!

वे बाहर से जितने विशाल थे, उनका हृदय भी उतना ही विशाल था। यदि वे ऐसा न होते तो गोरी को बार-बार पकड़कर कभी न छोड़ देते। जब गोरी की तीक्ष्ण कटूक्तियों से पृथ्वीराज तलमला उठते हैं, तब—

बोले सम्राट् रे कृतघ्न! आज तू यों
रौंदता न मेरी मातृभूमि को त्रिकाल में
होता जयचंद यदि माता का सपूत तो।

भूलता है छः छः बार बंदी कर फिर भी
दे-दे क्षमादान तुझे भेजा था स्वदेश को !

जब गोरी आँखें फोड़ने के लिए तप्त शलाखें लाने की आज्ञा देता है, तब भी पृथ्वीराज जरा भी विचलित नहीं होते और उसकी इस अनीति की निन्दा करते सदर्प कहते हैं :—

साहस हो, खोलो सीकड़ों को, तलवार दो,
सामने खड़े हो, फिर देखो क्षण भर में
बाजी लौट आती है महान् आर्य-देश की।
मान जावें पंच हम पाव भर लोहे को
दे दो शेष निर्णय का भार तलवार को।

यह कह वे हथकड़ियों और बेड़ियों को तड़ातड़ तोड़कर वहाँ प्रलयकाण्ड मचा देते हैं। दूसरे सर्ग का यह प्रसंग पढ़ने ही योग्य है। इसी प्रकार अन्यान्य प्रसंगों पर भी पृथ्वीराज के प्रताप का, उनके व्यक्तित्व का आतंक छाया रहता है।

पृथ्वीराज पराक्रमी वीर ही नहीं थे, वे मातृभूमि के परम भक्त थे। स्वदेश का प्रेम उनके हृदय में निरन्तर हिलोरें लेता रहता था। वे बंदी की अवस्था में भी जननी-जन्मभूमि से दूर होना नहीं चाहते थे—चाहते थे कि शस्यश्यामला वसुमती की झलमल झाँकियाँ लोल लोचनों में निरन्तर झूलती रहें। हाय ! जब उनकी आँखें फोड़ी जाने लगीं, तब—

पृथ्वीराज बोले—हाय भारत-वसुन्धरे,
आर्यभूमि, आर्यावर्त, आर्यप्रतिपालिता !
एक बार देख लूँ तुम्हारी सौम्य मूर्ति मैं
आँखें भर, संभव नहीं है, इस जन्म में
देखूँगा तुम्हारा शस्यश्यामला स्वरूप मैं।

× × ×

भारत के भानु का उदय आज देखा था
अच्छा हुआ, देखूँगा न अस्त दिनमणि का।

द्वितीय युद्ध का भयदायक समाचार सुनकर जब सुलतान पृथ्वीराज को भारत से हटाकर अपनी राजधानी गजनी को भेजने को उद्यत हुआ—क्योंकि इस युद्ध के पहले दिल्लीपति को अविलंब बाहर भेज देना आवश्यक था—तब

बोला आर्यवीर—यह तीसरा प्रहार है।
बंदी किया, अंधा किया, किन्तु यही तोष था
मैं हूँ मातृभूमि की ही स्नेहमयी गोद में।

जिस महावीर ने इस जन्म में त्रिभुवननाथ से भी कभी करुणा की भूल से भी भीख नहीं माँगी, वही मातृभूमि के प्रेम के कारण यह दयादान माँगता है :—

सीमा हो समाप्त जहाँ मेरी मातृभूमि की
कह दें मुझे वे मैं तनिक उस भूमि की
मिट्टी चूम लूँगा, बस इतनी विनय है।
अंधा हूँ, सकूँगा नहीं देख मातृमूर्ति मैं।

जयचंद

भारतीय इतिहास में भारतीयों की दृष्टि में गोरो और जयचन्द दोनों ही दूषित दृष्टि से देखे जाते हैं—एक तो देश का दुश्मन होने और दूसरा देशद्रोही होने के कारण। गोरी की अपेक्षा जयचन्द देशवासियों की अत्यधिक घृणा का पात्र है। यहाँ तक कि देशद्रोही के अर्थ में जयचन्द रूढ़-सा हो गया है। किन्तु, 'आर्यावर्त' के कवि ने इन दोनों के भी ऐसे दर्शनीय चित्र चित्रित किये हैं कि उनके प्रति हमारी बरबस सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है।

अपनी जघन्य प्रतिहिंसा की पूर्ति के लिए जिस गोरी का साथ देकर जयचंद देश का दुश्मन बना, वह गोरी भी उसके बारे में यह सम्मति रखता है :—

आप जानते हैं, आत्मबल सभी क्षेत्र में
विजयी बनाता है, परंतु जयचंद का
नाश हुआ आत्मबल वह देशद्रोही है।

ऐसे विश्वासघाती जयचंद के हृदय-मन्थन का कवि ने ऐसा सजीव वर्णन किया है कि उससे उसकी कलंक-कालिमा पुँछ-सी जाती है और पाठकों के हृदय अनायास ही कह उठते हैं कि बेचारे का पाप पश्चात्ताप के दावानल में दग्ध हो गया और अब वह घृणा का पात्र नहीं रहा।

जब रानी की ओर से अपना लिखा पत्र लेकर कवि चंद राजा जयचंद के यहाँ जाता है, तब वह अत्यन्त धैर्यपूर्वक पत्र को सुनता है और कहता है :—

जानता हूँ कल इतिहास लिखा जायगा
जब आर्यभूमि का, तो मेरे इस कृत्य का
वर्णन रहेगा वहाँ और उसे पढ़के
युग-युग पाठक घृणा से धिक्कारेंगे।

× × ×

मैंने जिस पाप-कालिमा को निज मुख में
ईर्ष्या से लगाया था, उसे मैं निज रक्त से
अब धोता हूँ—विश्व देखे आँख खोल के।

कह दें कवींद्र, आप जाके महारानी से
देशद्रोही जयचंद भस्मीभूत हो गया।
आर्य जयचंद अब प्रकट हुआ यहाँ
नंगी तलवार लिये—जब तक देश की,
बेड़ियाँ कटेंगी नहीं तब तक प्रण है,
रक्खेगा न भूल के कृपाण वह म्यान में।

उसके मरण-काल का करुण विलाप तो ऐसा कारुणिक है कि रो देना पड़ता है। सिर्फ हमें ही नहीं,

सुनके प्रलाप सकरुण जयचंद का
रो पड़े सभासद, कवींद्र हुआ विचलित,
बार-बार हृदय उमड़ आया रानी का।

इस विलाप-कलाप से उसकी हार्दिक मर्मवेदना प्रकट होती है और कवि ने उसे निष्कलंक कर डाला है। उसके मुख से इन पंक्तियों के निकलते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं :—

माता आर्य-जननी, हे भवभवहारिणी,
तनिक सहारा दो—दया करो दयामयी।

मुहम्मद गोरी

'आर्यावर्त' के कवि ने गोरी-जैसे पात्र के चरित्र को भी निर्मल और उज्ज्वल बनाकर ही काव्य में स्थान दिया है।

द्वितीय और निर्णायक युद्ध के ठीक पहले आर्यों ने गोरी की सेना को तीन ओर से घेर लिया और भारतेश्वरी का एक दूत गोरी के शिविर के समीप उपस्थित हो आज्ञा की प्रतीक्षा में ठहरा रहा तो :—

"भेजो यहाँ सादर"–कहा यों सुलतान ने—
"दूत है अवध्य, वह आदर का पात्र है।"

यहाँ उसने आर्यों की-सी धर्मोचित शिष्टता और सभ्यता दिखलायी है। दूत आदर का पात्र है, यह आर्यों की युद्ध-नीति का एक आदर्श है। फिर,

बोला सुलतान–"दूत, बोलो, महारानी का
क्या है आदेश,—यहाँ बोलो निर्भय हो।"
"धन्यवाद",बोला दूत शान्त-धीर स्वर में—
"भारत-अधीश्वरी का यह संदेश है,

'आप लौटा दें महाराज दिल्लीपति को,
खुद लौट जायँ चुपचाप इस देश से।"

आप 'आदेश' शब्द पर ध्यान दें। कवि ने गोरी के मुख से कैसी नम्र और मीठी भाषा का प्रयोग कराया है। किसी बड़े का, सम्माननीय व्यक्ति का ही 'आदेश' सुना जाता है। एक शत्रु दूसरे शत्रु को आदेश नहीं दे सकता। पर, गोरी के मुख से नम्रता की अतिशयता करा दी है कवि ने। गोरी का भी सारगर्भित उत्तर सुनिये :—

सुन लिया प्रश्न, पर कल रणभूमि में
दूँगा दूत ! उत्तर स्वयम् महारानी को।

इससे स्पष्ट हुआ कि वह युद्ध से बचना नहीं चाहता। पर कितनी मीठी भाषा में वह दूत को उत्तर देकर विदा करता है। यही संलाप-कला की कुशलता है।

गोरी के चरित्र की महानता उस समय चरम सीमा को भी पार कर जाती है जब वह हाथी पर चढ़ा युद्ध-भूमि में रानी के रथ के सामने सहसा आ जाता है। गोरी की आधी सेना साफ हो गयी है। आर्य-सेना जीत रही है। गोरी को देखते ही भारतेश्वरी ने पुकारकर कहा:—

"स्वागत है वीर सुलतान, इस ओर हूँ,
देखो आँख भरके, यही तो रणभूमि है।
तुमने कहा था कल मेरे उस दूत को
उत्तर प्रदान करने को रणभूमि में।"

रानी के शब्दों में कुटिल कटाक्ष की कटुता का आभास स्पष्ट है; पर गोरी एक वीर पुरुष है। वह जानता है कि एक वीर पुरुष स्त्री जाति को किस दृष्टि से देखता है। कवि वर्णन करता है:—

सादर झुकाया शीश अस्त्र रख गोरी ने
और वह बोला—"देवि, राजा जयचन्द को
ढूँढ़ता हूँ—सेनापति वे ही हैं, किधर हैं?
योग्य मैं नहीं हूँ भारतेश्वरी के प्रश्न का
उत्तर प्रदान करूँ—आप क्षमा कर दें।

कवि ने गोरी का कैसा आदर्श चित्र उपस्थित किया है। वह अस्त्र डाल आदर से शीश झुकाकर बातें करता है। तुलना में रानी के शब्दों से औद्धत्य प्रकट होता है, झल्लाहट और अपमानकारक भाव प्रकट होते हैं; पर गोरी अपनी महानता के केन्द्र में अटल भाव से जमकर खड़ा है। महारानी के प्रति गोरी के हृदय में अटूट श्रद्धाभाव है।

गोरी पृथ्वीराज का भी समादर करता है और पृथ्वीराज के पराजय को भी आदर की दृष्टि से देखता है। जब अंधे पृथ्वीराज मातृभूमि की सीमा पार करने के समय सूचना देने की प्रार्थना करते हैं, तब :—

'माँगता हूँ मैं ही दयादान' कहा गोरी ने

× × ×

पूजक हूँ वीर का मैं—आप महावीर हैं।
धन्य है स्वदेश-भक्ति आपके हृदय में।

गोरी की स्वीकृति के बाद महाराज धीर वाणी से बोलते हैं :—

यह वीर-धर्म है—मुझे भी है प्रसन्नता
हारा किंतु वीर से ही सम्मुख समर में।
आर्य करते हैं सदा पूजा वीर-धर्म की।

गोरी पृथ्वीराज को क्या समझता है, वह उसकी इस उक्ति से प्रकट है :—

'घोंसले में बिजली छिपाके मैं प्रसन्न हूँ।'

इतिहास-प्रसिद्ध पृथ्वीराज की आँखें निकलवा लेने की दुर्घटना को भी, जो उसके उज्ज्वल चरित्र-चित्र में भद्दी और मोटी काली रेखा है, कवि ने ऐसा रंग-रूप दिया है कि उसका कायापलट हो जाता है। गोरी के दरबार में दुष्ट जयचंद पर दृष्टि पड़ते ही पृथ्वीराज कहते हैं :—

जन्म से ही आर्य खेलते हैं तलवार से,
किंतु देख इस देश-द्रोही को समक्ष ही
छाती जलती है—इसे दूर करो दृष्टि से।

यह सुनते ही जब जयचंद दहसत से दहल उठता है, तब गोरी

बोला कुछ रुकके सरोष रुक्ष वाणी में—
दिल्लीपति, ऐसी ही व्यवस्था किये देता हूँ
जिससे भविष्य में न आप कभी भूलके
देखें महाराज वीर-श्रेष्ठ जयचंद को।

क्या अपने उपकारी और सहायक जयचंद का आतंक दूर करने को गोरी ऐसी व्यवस्था न करके कृतघ्न बनता!

इसी भाँति कवि ने सभी पात्रों को ऐसे साँचे में ढाल रक्खा है कि उनके सामने आते ही हमारे हृदय सहज सहानुभूति से भर जाते हैं और गोरी तथा जयचंद के-से पात्रों के प्रति भी श्रद्धा हो जाती है।

'आर्यावर्त' में दो पात्रों के ऐसे चरित्र चित्रित हैं, जो शुक्रतारे की भाँति अपने उज्ज्वल आलोक से उसे आलोकित कर रहे हैं, वे क्षणदा की-सी क्षणिक छटा ही छिटकाकर छिप जाते हैं। एक तो हैं समर-समरसी और दूसरा जयचंद के राग-रंग भरे दरबार का वृद्ध चारण, जो निर्भय हो आर्योचित तथा समयोचित वचन कहने से विमुख नहीं हुआ। समरसी-सा वीर और चारण-सा चारण इतिहास के पृष्ठों में बहुत कम मिलते हैं।

राणा समरसी को हार होने की कसक अंत काल तक रह जाती है और वह देवी से यही वरदान माँगता है कि :—

फिर एक बार जन्म धारण करूँ यहाँ
और मैं चुका दूँ यह ऋण आर्य-भूमि का।

चारण की वाणी-वीणा की झंकार सुनिये :—

जब आर्य-भूमि इस भाँति पराधीना है
और जब डूबी लाज आर्य-करवाल की
घृणित पराजय की कालिमा में सहसा।
ऐसी घड़ी में भी हम बैठकर मोद में
यदि झूमते हैं मद पीके उन्मत्त हो
फिर किस मुँह से कहेंगे कभी गर्व से
हम आर्यपुत्र हैं, हमारा यह देश है।
खोके आत्मगौरव स्वतंत्रता भी जीते हैं
मृत्यु सुखदायक है वीरो! इस जीने से।

इसके अनन्तर फिर तो :—

जितने सभासद वहाँ थे प्रलयंकरी
ज्वाला उर-अंतर में भरके बिदा हुए
चिंताग्रस्त मंत्री चले, सेनापति क्रोध में।

'आर्यावर्त' के स्त्री पात्र

यों तो 'आर्यावर्त' में इने-गिने पात्र हैं ही, उनमें भी स्त्रियाँ तो केवल दो ही हैं—एक महारानी संयोगिता और दूसरी कविरानी। महारानी संयोगिता का जो चित्र महाकवि चंद ने अपने महाकाव्य 'रासो' में अंकित किया है, उससे भिन्न चित्र 'आर्यावर्त' के कवि ने आँका है।

परंपरा से प्रधानतः यह परिपाटी देखने में आ रही है कि कवियों ने सदा ही स्त्रियों को अपने काव्यों में कोमल-कमनीय-कलेवरा समझकर सबसे मोहक स्थलों पर ही स्थापित किया है। आत्म-त्याग करना, विरह में विकल होना और मधुयामिनी का मधुमय सृजन करके मानव-मन को मोर-सा नचाना, स्त्रियों के लिए इन्हीं-जैसे कई कामों को हमारे कवियों ने चुन रखा है। वे न जाने क्यों, स्त्रियों को फूलों के हाथों ही खेलाते रहे। उन्होंने बादल-भरे व्योम में विद्युत-विभा के समान भासमान कैकेयी की-सी कुलाङ्गनाओं को कठिन काल में काम आने का रूप नहीं दिया। किंतु 'आर्यावर्त' के कवि ने सोच-समझकर अपने दोनों स्त्री पात्रों को ठीक वहीं पर ला खड़ा कर दिया है, जहाँ से प्रलय का प्रारंभ होता है। ज्वालामुखी के मुख पर ही मोम की पुतलियों को लाकर

बिठला देने का जैसा निष्ठुर प्रयास 'आर्यावर्त' के कवि ने किया है, वैसा निर्ममता का प्रयास शायद ही किसी पूर्ववर्ती कवि ने किया हो। यहाँ एक-दो प्राचीन स्त्री-चरित्रों की चर्चा कर देना अनावश्यक न समझा जायगा।

रामायण की माता सीता धनुषयज्ञ से लेकर वन की आपदा झेलती हुई अयोध्या के महारानी-पद तक पहुँच जाती हैं। उनके जीवन के चढ़ाव-उतारों की एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा 'रामायण' के इस छोर से उस छोर तक खिंची हुई है। वह रेखा सुख-दुख के अनेक अवसरों को पार करती गयी है। महाभारत की द्रौपदी ने भी हँसी और रुदन, गौरव और अगौरव, सभी प्रकार की संभव-असंभव अवस्थाओं का अतिक्रमण किया है। जिस प्रकार सीताजी मर्यादापुरुषोत्तम पति और प्रबल पराक्रमी देवर से सदा रक्षित रहीं, उसी प्रकार पांचाली भी अपने पाँचों प्रतापी पांडवों से सदा रक्षित रहीं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति सदा पुरुष के ही साथ रही—पुरुष का जब-जब उसे वियोग हुआ, वह हतचेत-सी होकर जीवन के दिन व्यतीत करने लगी; जैसे लंका और वाल्मीकि के आश्रम में माता सीता और राजा विराट् के घर में छद्म-रूपधारिणी द्रौपदी। पुरुष से अलग होकर प्रकृति-रूपिणी सीता चुपचाप पड़ी बिसूरती रहीं और द्रौपदी कीचक की छेड़खानियाँ सहती रहीं। न जाने प्रायः हमारे कवियों ने भारतीय ललनाओं का ऐसा निरीह और निरुपाय चित्रण क्यों किया है! सीता और द्रौपदी विपत्ति में पड़ जाने पर भगवान राम और पांडवों को ही पुकारती रह गयीं—स्वयं उन्होंने आँचल कसकर उठने का प्रयत्न नहीं किया। यदि चाहतीं तो परा-प्रकृति-रूपिणी ये देवियाँ महाप्रलय मचा डालतीं। पर हमारे कोमल-हृदय महाकवियों ने इनके कमल-कोमल हाथों में तलवार देना पसंद नहीं किया—ऐसी अभावुकता वे न कर सके या ऐसी कठोरता करते उनसे नहीं बन पड़ा।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिस समय इन दोनों महाकाव्यों में इन दोनों देवियों के ऐसे जो चित्र उपस्थित किये गये, इसका कारण है उस समय के देश, काल और पात्र की वैसी अवस्था का होना और धर्म-बल की प्रधानता। इसीसे उक्त महाकाव्यों के कवियों ने अपनी कल्पनाओं की बागडोर इस ओर नहीं मोड़ी और वही परंपरा आज तक चलती आयी।

हमारे इन सब वाक्यों के उल्लेख से कभी यह अभिप्राय नहीं कि 'रामायण' तथा 'महाभारत' से और सीता तथा द्रौपदी से 'आर्यावर्त' तथा इसके स्त्री पात्रों से तुलना करने बैठे हैं। उद्देश्य केवल यही है कि पाठकों के सम्मुख 'आर्यावर्त' के कवि का दृष्टिकोण पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष हो जाय। अब 'आर्यावर्त' के स्त्री पात्रों के चरित्रों पर विचार करें।

'आर्यावर्त' के कवि ने अपने काव्य के सबसे स्पृहणीय भाग को पूर्ण करने का भार अपने स्त्री पात्रों को ही सौंप दिया है। शायद ही किसी कवि में इतना साहस हो कि वह अपने काव्य के उस भाग को, जो अत्यन्त तुनुक और भयावह हो, स्त्री पात्रों को सौंप दे। यदि सच पूछा जाय तो 'आर्यावर्त' को हम स्त्री-प्रधान काव्य कह सकते हैं। महाकाव्य के पुरुष पात्रों ने अपनी गलती से

जो कुछ विनाश कर डाला है, उसका संशोधन हुआ स्त्री पात्रों के हाथों से। जीवन के सबसे भयानक मोर्चे पर जब पुरुष हथियार डाल देता है, तो प्रकृति उस हथियार को उठाकर आगे बढ़ जाती है। महारानी और कविरानी ठीक वहीं प्रकट होती हैं जहाँ से काव्य का संघर्षमय रूप उपस्थित होता है। 'आर्यावर्त' के कवि ने यही दिखलाया है।

जब चन्द युद्ध से पराजय का संवाद लेकर अपने घर लौटता है, तब वह अपने को अंशतः हतचेत और निराश पाता है। वह अपनी कविरानी से कहता है:—

आज फटती है देवि! छाती, चित्त व्यग्र है
और-छोर सूझता नहीं है, अब क्या करूँ!

कवि चन्द विराट् पुरुष का प्रतीक है और कविरानी परा प्रकृति की मूर्ति। पुरुष प्रकृति के चरणों में प्रणत होता है हताश होकर। इसी भाव को 'आर्यावर्त' के कवि ने कवि और कविरानी की वार्ता से व्यक्त किया है। चन्द और कविरानी तो केवल कथा को स्पष्ट करने के लिये दो नाम-मात्र हैं। 'आर्यावर्त' का कवि नारी-शक्ति की महानता का कायल है। महाकाव्य में हृदयेश्वरी और प्रियतमा के रूप में कोई भी नारी नहीं आयी है।

हाँ, तो कवि चन्द जब तैरता-तैरता थककर फेन चाटने लगता है तब कविरानी कहती है:—

× × × आर्य, इतनी हताशा आज
शोभा नहीं देती आप-जैसे धीर-वीर को।
भाग्य क्या है?—निर्बलों का तुनुक सहारा है,
वीर निर्माता हैं स्वयं निज भाग्य के।
पूछते हैं विधना स्वयं कर्मवीर से—
क्या लिखूँ भाग्य-पट पर तुम्हीं स्वयं कहो।
× × ×
आप निज भाग्य के स्वयम्भू निर्माता हैं
कायरों का भाग्य लिखा जाता है विधाता से।
× × ×
साहस है जीवन, हताशता ही मृत्यु है।

क्लान्त-श्रान्त चन्द कविरानी की बातें सुनते ही विषधर की तरह फूत्कार कर उठता है; उसके भीतर का पौरुष प्रकृति-शक्ति के स्पर्श से दुर्दान्त हो उठता है। 'आर्यावर्त' के कवि ने अत्यन्त ओजपूर्ण शब्दों में चंद के उस समय की ओजपूर्ण मूर्ति का वर्णन किया है।

सुनकर बातें कविरानी की, कवींद्र की
फड़कीं भुजाएँ, खून दौड़ा रग-रग में
रक्त बहा सूखे हुए क्षत से प्रहारों के।

× × ×

फूल उठी छाती चढ़ीं त्यौरियाँ गजब की
आँखें हुईं लाल—बोला कवि चन्द रोष में—
आर्ये, मैं हताश नहीं हूँगा और अंत तक
जूझूँगा—करूँगा प्रतिपाल आर्य-धर्म का।

'आर्यावर्त' के कवि ने कविरानी को ऐसी अवस्था में प्रकट किया है कि जिस अवस्था में क्षण भर रुककर कर्तव्य निश्चित करने का भी समय नहीं है—रोना, हँसना तो दूर की बात है। इसी से कविरानी हुँकारती हुई कहती हैं :—

सोचने का समय समाप्त हुआ रण में
कर्म करने की महाक्रूर घड़ी आयी है।

कविरानी की बातों से कवि चन्द के मन की सारी निराशाएँ दूर हो जाती हैं और वह अंत तक अपनी जगह पर शेर की तरह डटा रहता है। यह 'आर्यावर्त' के कवि की ही करामात है कि उसने अनुकूल और प्रतिकूल तत्वों के योग से एक तीसरी शक्ति पैदा कर दी। आकाश में कौंधनेवाली तड़िता से प्रदीप की बत्ती का छोर जरा-सा छुला दिया। बस, काम बन गया।

'आर्यावर्त' की नारियाँ साधारण नारी-मूर्ति से ऊपर के स्तर की हैं। पुरुष तत्व का विकास होता है, तो वह अपने ही आप में मग्न हो महायोगीश्वर बन जाता है। किन्तु, स्त्री-शक्ति का जब विकास होता है, तब वह सृष्टि-स्थिति-लयकारिणी होकर परा शक्ति के रूप में परिणत होकर दुर्दमनीय हो उठती है। 'आर्यावर्त' में ऐसी ही पूर्ण विकसित नारी-मूर्तियों को स्थान दिया गया है।

पाठक कविरानी के चित्र की कुछ झाँकी देख चुके, अब महारानी संयोगिता के चित्र को आँखें भर देख लें।

यों तो महारानी संयोगिता का चरित्र अत्यन्त तेजोमय है; पर कविरानी नींव की शिला है। कवि होने के कारण कविपत्नी के प्रति पक्षपात का ही भाव 'आर्यावर्त' के कवि ने ग्रहण किया है। इससे उस जवाहर में ज्यादा जगमगाहट आ गयी है।

रानी संयोगिता, जब से राजा युद्ध में गये हैं तब से, देवी-पूजा में तल्लीन रहती है। कविरानी भवानी के ही मंदिर में जाती हैं युद्ध का हृदय-विदारक संवाद रानी को सुनाने। हमारे प्राचीन काव्यों में भग्नदूत का ही वर्णन पाया जाता है; पर 'आर्यावर्त' में आपको भग्नदूती का एक उज्ज्वल चरित्र मिलेगा। आप सोचें, कविरानी ने अपने कन्धों पर कितना गुरुत्वपूर्ण और साथ ही भयानक कार्य-भार वहन किया है। कविरानी ने अपने भावुक पति को इस पीड़ा से साफ-साफ बचा लिया। एक महीयसी महिला का ऐसा महनीय चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है।

रानी ध्यान-मग्न हैं। कविरानी बैठ जाती हैं। ध्यान भंग होने पर महारानी ने कुशलवार्ता पूछी, तो अत्यन्त कुशलतापूर्वक कविरानी कहती हैं :—

'आर्ये, है कुशल पर आप जरा स्वस्थ हों
तब मैं सुनाऊँगी कहानी उस युद्ध की
जिस युद्ध में है लुटा भाग्य आर्य जाति का।'

कविरानी ने कुछ भी नहीं कहा, पर फिर भी सब कुछ कह दिया। थोड़े-से शब्दों में, थोड़ी-सी दुःखवार्ता सुनाकर जैसे कविरानी देखना चाहती हों कि रानी में सहन करने की शक्ति है या नहीं। अचानक बड़ी बात कह देने से संभव है, परिणाम अत्यन्त भयानक हो जाय। कोमलहृदया पतिप्राणा संयोगिता शायद ऐसे आघात को न सह सके। किन्तु, कविरानी की बात सुनते ही महारानी क्षणमात्र के लिये अधीर हो गयीं और तुरत अपने को सँभालकर दृढ़ स्वर में बोलीं :—

आर्ये ! आप जानती हैं मेरे रग-रग में
आर्य-रक्त खौलता है—मैं हूँ आर्यवीर की
पत्नी और आर्य-देश की हूँ राजमहिषी।

यहाँ पर संयोगिता की वीरता की प्रशंसा 'आर्यावर्त' के कवि ने नहीं की है। रानी के शरीर में जो आर्य-रक्त है उसी उज्ज्वल रक्त की महिमा रानी के रूप में सृष्ट हुई है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी भगवान राम के मुँह से 'रघुवंशिन कर सहज सुभाऊ' कहवाकर ही व्यक्ति से महान् वंश-गौरव को सिद्ध किया है। आर्य-रक्त की महानता की ओर फिर से ध्यान दिलाकर 'आर्यावर्त' के कवि ने हिन्दू-राष्ट्र के सामने एक विस्तृत रत्नभांडार को उन्मुक्त कर दिया है। नये सिरे से हमें गर्व करने का एक आधार देकर 'आर्यावर्त' के कवि ने हिन्दू-राष्ट्र की अमूल्य सेवा की है।

युद्ध में देश के विनाश होने का हाल धैर्यपूर्वक सुनकर रानी अपनी देवी से कहती हैं :—

डरती नहीं हूँ आपदा से मुझे शक्ति दे,
रौंदकर नष्ट कर डालूँगी विपत्ति को।

ऐसी आत्म-निर्भरता का उज्ज्वल उदाहरण हमें अन्यत्र देखने का अवसर अद्यावधि प्राप्त न हुआ। महारानी फिर कहती हैं :—

आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो
अजर-अमर हैं, सुयश के शरीर में।
कायरों की मृत्यु साँस-साँस पर होती है
काँपता है मरण पराक्रमी की छाया से !

इन ज्वालामयी पंक्तियों की व्याख्या करना अत्यन्त दुष्कर है। महारानी संयोगिता वीरता की साक्षात् प्रतिमा की कल्पना-प्रसूत पवित्र मूर्ति हैं। रानी का कितना महान् रूप 'आर्यावर्त' के कवि ने अंकित किया है !

पुनः दुर्गतिनाशिनी दुर्गा के रूप में महारानी कहती हैं :—

किन्तु हिया फटती है सोच दशा उनकी,
जिन अबलाओं का सुहाग लुटा रण में।
आँसू पुँछ जाते, दुःख दूर होता उनका
यदि प्राप्त होती जय, देश होता विजयी ;
डूब जाती पीड़ा जय-सुख के समुद्र में।
कैसे उन्हें तोष दे सकूँगी यही चिन्ता है,
कैसे आर्यभूमि की कटेंगी क्रूर बेड़ियाँ ;
कैसे आर्य जाति की सुकीर्ति बचा पाऊँगी।

महारानी को अपनी चिन्ता नहीं है—अपना रोना नहीं है। जहाँ कर्तव्य का विराट् रूप सामने खड़ा हो जाता है, वहाँ व्यक्तिगत प्रश्न का अस्तित्व लुप्त हो जाता है। जैसे एक बूँद जल महासागर में जाकर महासागर बन जाता है, वैसे ही रानी संयोगिता ने अपने अपनत्व को विराट् के साथ तदाकार कर दिया है। इससे उज्ज्वल नारी-चरित्र का चित्रण कहीं किसी ने देखा है !

अपने पिता (राजा जयचंद) को महारानी पत्र लिखती हैं। पत्र की कुछ पँक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं। यह स्मरण रखें कि यह पत्र भारतेश्वरी के पद से लिखा गया है।

× × × आप आर्यपुत्र हैं
फिर भी अनार्यों को बढ़ावा दिया आपने
रौंदने में आर्य-जननी को—महाशोक है।
पातक अनेक हैं भयानक तथापि यह
देशद्रोह ऐसा घोर पाप है कि जिससे
काँपता है नरक—अधीरा धरा होती है।
देशद्रोहियों को अधिकार है न जीने का
इनसे घिनाता है मरण भी इसीलिये
अब तक घृणित शरीर यह आपका
जीवित है, जीवित पिशाचवत्—खेद है !

महारानी ने अपने पिता को भी, जिस पद पर वे आसीन हैं, उसके योग्य ही दुत्कारने, फटकारने और धिकारने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं दिखलायी, जिससे जयचन्द का जीवन ही परिवर्तित हो गया। इन सबों से भी उच्च स्तर का, महारानी का जो अनुपम राष्ट्रीय रूप है, उसका दिग्दर्शन अगले शीर्षक में कराया गया है। अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आर्यावर्त' के कवि ने नारी-महिमा का जैसा विराट् चित्रांकण करके दिखलाया है वैसा मौलिक और निर्दोष चित्र सर्वत्र सुलभ नहीं है।

15739

'आर्यावर्त' का आधार—राष्ट्रीयता

इतिहास चाहे जो कुछ कहे; पर 'आर्यावर्त' को उसके कवि ने उग्र राष्ट्रीयता की पक्की भूमि पर ही प्रतिष्ठित किया है। गोरी का आक्रमण होता है ; पृथ्वीराज बंदी होते हैं और इस प्रकार एक लज्जाजनक दृश्य पर हौले-हौले पर्दा पड़ता है। पृथ्वीराज और गोरी का, दो राजाओं का युद्ध है। देश ने पृथ्वीराज का साथ नहीं दिया। जब पृथ्वीराज खून की होली खेल रहे थे, दूर से खड़ा होकर सारा देश तमाशा देख रहा था। पृथ्वीराज जब बंदी हो गये, तब जिस प्रकार दंगल के मैदान से हम हारे हुए पहलवान के प्रति सकरुण सहानुभूति का भार मन पर लादे घर लौट जाते हैं, उसी प्रकार दर्शक भी पराजित राजा के प्रति कुछ सहानुभूति मन में लेकर अपने-अपने घर लौट गये। किसीने भी पृथ्वीराज की हार को अपनी हार नहीं समझी; उसे अपने देश की हार के रूप में नहीं देखा। यहाँ तक कि कवि चन्द ने जब थोड़ा-सा इस पराजय की लजा को देश की लज्जा के रूप में देखा तब अनन्योपाय कवि का दिमाग भी चकरा गया—उसका कुछ भी हल सूझ नहीं पड़ा।

ऐसी दशा में 'आर्यावर्त' के कवि ने संयोगिता से एक महान् कार्य का सम्पादन कराया है। जो कार्य महाराज पृथ्वीराज से नहीं हो सका वही संयोगिता ने कर दिखलाया। पृथ्वीराज तलवार के धनी थे। उन्होंने आर्य जाति में धीरता और वीरता की रुह फूँक दी थी। सब कुछ किया था; पर उनसे देश में राष्ट्रीयता का वातावरण उत्पन्न न हो सका था। वे देश में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत नहीं कर सके थे, एक उद्देश्य को लेकर पारस्परिक एकता का प्रसार न कर सके थे। परिणाम यह हुआ कि गोरी से लोहा लेने में पृथ्वीराज की पराजय हो गयी। उस समय देश ने यह नहीं सोचा कि यह युद्ध आर्यों और अनार्यों का है। ठीक इसके विपरीत गोरी और पृथ्वीराज का युद्ध समझ देश के राजे-महाराजे कर्महीन तटस्थ दर्शक-से खड़े रह गये। पर, रानी ने सारे देश को राष्ट्रीयता के आधार पर एक सूत्र में बाँध दिया। यह असाध्य साधन कवि ने संयोगिता से ही करवाया है।

रानी ने तुरत इस पराजय के गुरु भार को देश के सिर पर लाद दिया और देश के सामने एक यह नया प्रश्न उपस्थित कर दिया कि वह इस पराजय को अपनी दुर्गति समझकर तथा कन्धे से कन्धा भिड़ाकर खड़ा हो आगे बढ़े। रानी ने पृथ्वीराज की हार का बदला लेने के लिए देश का आह्वान नहीं किया; बल्कि देश के लिए ही देश को पुकारा। पृथ्वीराज के प्रश्न को गौण रूप देकर रानी ने देश की मान-प्रतिष्ठा के प्रश्न को प्रधान रूप प्रदान कर दिया।

महारानी का महान् राष्ट्रीय रूप प्रथम-प्रथम प्रकट होता है मन्त्रि-मंडल में। वहाँ उन्होंने भारतीयता का जो मूल्यवान और जाज्वल्यमान वक्तव्य दिया है, उससे उनका चरित्र और निखर पड़ता है। वक्तव्य की कुछ पँक्तियाँ ये हैं :—

होती सती ले के पादुका मैं महाराज की

किन्तु कर्तव्य मुझे रोकता है—क्या करूँ,
उचित नहीं है—इस संकट में देश का
साथ छोड़ देना—घोर घृणित अधर्म है
× × ×
चिन्ता नहीं कोई छत्र धारण करे यहाँ
किन्तु वह आर्य हो, विनय यह मेरी है।
× × ×
आप निर्धारण करेंगे जिस नीति का
होगी मान्य मेरे लिये—मैं तो इस देश की
एक तुच्छ दासी हूँ, कृपाश्रिता हूँ राष्ट्र की।

महारानी ने न तो राष्ट्र की तुलना में व्यक्ति को मुख्य ठहराया और न व्यक्तिगत धर्म (अपने सहमरण) को राष्ट्रीय धर्म की समकक्षता में महत्व ही दिया।

ज्योंही महारानी ने देश को संगठित कर सामूहिक रूप में आक्रमणों का उद्योग पूरा कर लिया, त्योंही इस द्वितीय युद्ध का संवाद लेकर एक गुप्तचर ने गोरी को यह संवाद नम्र भाव से यों निवेदन किया :—

आ रहा हूँ दिल्ली से, वहाँ का कुछ और ही
देखा सुना हाल मैंने—तोते उड़े हाथ के।
× × ×
दिल्लीपति और आप से ही पूर्व युद्ध था,
विजय मिली थी, जयचंद बना द्रोही था।
अब प्रलयंकर समर होगा आप से
और आर्य देश का—अधीर बना आया हूँ।

संयोगिता ने युद्ध को सारे 'आर्यावर्त' का युद्ध बना लिया। इसके बारे में 'आर्यावर्त' के कवि ने बड़ी कुशलता से गोरी के मुख से ही प्रशंसा के जो वाक्य कहलाये हैं वे उपेक्षणीय नहीं हैं। क्योंकि शत्रुकृत प्रशंसा का कुछ और ही मूल्य होता है। गोरी एक स्थान पर कहता है :—

हाँ, मैं डरता हूँ महारानी के प्रभाव से
देखते ही देखते समस्त आर्य देश का
संगठन करके कमाल किया उसने।
पृथ्वीराज विफल हुए थे इस यत्न में,
सिंहिनी भयानक दिखायी पड़ी सिंह से।

तलवार का धनी सुलतान तलवार की आँच से नहीं घबराता। वह डरता है रानी के

प्रभाव से। रानी की संगठन-शक्ति के सामने गोरी घुटने टेक देता है। संगठित देश के आगे गोरी की तलवार कुंठित हो जाती है। संगठित सौ-दो-सौ सेना हजारों की भीड़ से अधिक बलवती होती है। गोरी जानता है, आज मुझे एक भीड़ से नहीं बल्कि एक संगठित राष्ट्र से लोहा बजाना है, फिर उसका दिल क्यों न दहले!

महारानी के सामने कई बार पृथ्वीराज के पराजय का प्रश्न उमड़-घुमड़ कर आया, पर वह साफ तौर से उसे टालकर राष्ट्रीयता के केन्द्र में ही चली आती है। उसने अपने पति का बदला लेने के लिये गोरी से युद्ध नहीं किया। वह देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही तलवार उठाकर आगे बढ़ी। युद्ध जीत जाने पर उसने अपने सेनापति से कहा :—

आप मेरी ओर से समस्त आर्य सेना को
धन्यवाद दीजिये, बहा के रक्त अपना
मान रक्खा वीरों ने महान आर्यभूमि का।

उपर्युक्त उदाहरणों से अब इसमें सन्देह नहीं रह गया कि कवि ने राष्ट्रीयता की भावना को ही 'आर्यावर्त' की आधार-शिला मानकर कलम उठायी है और उग्र राष्ट्रीयता का ही निरूपण संयोगिता के चरित्र में किया है। कवि ने संयोगिता को महारानी संयोगिता के रूप में नहीं बल्कि, उसे आर्य-जननी के रूप में ही अंकित किया है। उसकी अलौकिक कल्पना ने एक साधारण मानवी को राष्ट्रदेवी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

अब पलटा खाया हुआ समय कवियों से बामा-भामा के अतिरिक्त वीरा-धीरा को आदर दिलाने के लिए लालायित है। यह द्वितीय महायुद्ध भारतीय ललनाओं को प्रगति-पथ पर ला रहा है। ईश्वर करे, इसमें वीराङ्गनाएँ भी पैदा हों।

चरित्र-चित्रण और महाकाव्य

महाकाव्य होने के लिए चरित्र-चित्रण एक आवश्यक तत्व है। प्राच्य आचार्यों के विचार इस सम्बन्ध में इतने स्पष्ट नहीं हैं जितने कि प्रतीच्यों के। किन्तु, उन्होंने धीरोदात्त नायक के जो गुण बताये हैं उनसे ही चरित्र-चित्रण की महत्ता स्पष्ट है। आज के माननीय साहित्यिक, जिन पर पाश्चात्य और पौरस्त्य, दोनों साहित्यों का पूर्णरूप से प्रभाव पड़ा है, वे भी चरित्र-चित्रण की प्रधानता देते हैं और इसी से महाकाव्य का महाकाव्यत्व मानते है। कुछ उद्धरण 'मेघनाद वध' के मतामत से दिये जाते हैं :—

"महाकाव्य में हम सर्वत्र ही कवित्व के विकास की प्रत्याशा नहीं कर सकते। कारण, किसी बड़ी रचना में सर्वत्र सम भाव से प्रतिभा प्रस्फुटित हो ही नहीं सकती। इसीलिए हम महाकाव्य में सर्वत्र चरित्र-विकास, चरित्र-महत्व देखना चाहते हैं।"......"महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिए और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य, महदनुष्ठान होना चाहिये।" —रवींद्रनाथ टाकुर

"मनुष्य की पूर्णता के सम्बन्ध में हमलोगों का कल्पना की वृद्धि करना, किंवा हमलोगों के आश्चर्य अथवा भक्ति-भाव का उद्रेक करना ही एपिक (महाकाव्य) का उद्देश्य है। वीरोचित क्रिया-कलाप एवं उन्नत चरित्र-चित्रण के बिना यह कभी संभव नहीं। क्योंकि मनुष्य मात्र उन्नत चरित्र के ही पक्षपाती और भक्त होते हैं।" —ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर

"कवि की कल्पना और चरित्रों के विकास करने की शक्ति पर एपिक (महाकाव्य) का उत्कर्ष एवं स्थायित्व अवलम्बित रहता है। महापंडित अरिस्टाटल ने आख्यानवस्तु की अपेक्षा काव्यान्तर्गत चरित्र-चित्रण को ही प्रधानता दी हैं। वे कहते हैं, यदि चरित्र का नाटकीय अभिनय न हो तो एपिक (Epic) केवल इतिहास किंवा अद्भुत उपन्यास में परिणत हो जाता है।" —ज्ञानेन्द्रमोहन दास

'आर्यावर्त' के चरित्र-चित्रण के जो चित्र इस शीर्षक में अंकित किये गये हैं वे इस बात के साक्षी हैं कि वह चारित्रिक संपत्ति के किसी अंश में किञ्चिन्मात्र भी न्यून नहीं है।

रवीन्द्र बाबू का मत है कि वर्णनागुण से जो काव्य पाठकों को उत्तेजित कर सकता है; करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महाकवि।

अब यह पाठकों पर ही निर्भर है कि वे निर्णय करें कि 'आर्यावर्त' की रचना में उपर्युक्त गुण विद्यमान हैं या नहीं और वह महाकाव्य होने की योगयता रखता है या नहीं।

'आर्यावर्त' और हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव

हिन्दू और मुसलमानों का युद्ध ही 'आर्यावर्त' की कथा है। गोरी एक मुसलमान शासक है और पृथ्वीराज हिन्दू। मुसलमानों के हाथ से हिन्दुओं की करारी हार होती है, हिन्दू राजा अन्धे बनाकर देश से बाहर ले जाये जाते हैं, आदि आदि। यही कथा का संक्षिप्त रूप है।

हिन्दू कवि अपने देश के श्रेष्ठ हिन्दू राजा की हार मुसलमानों के द्वारा होने का वर्णन करेगा तो एक हिन्दू होने के नाते उसका हृदय अवश्य रह-रहकर जल उठेगा और वह ऐसा प्रयत्न करेगा कि पाठकों के मन में आग-सी लग जाय और वह कवि इस प्रकार जातीय घृणा का स्रष्टा हुए बिना नहीं रहेगा, जो एक बहुत ही विनाशकारी बात होगी।

हमने आजकल के एक-दो ऐसे तथाकथित काव्य देखे हैं जिनसे घृणा का प्रचार होता है। डी० एल० राय के कुछ नाटकों में भी मुसलमानों के प्रति तीव्र घृणा के भाव व्यक्त किये गये हैं। अब वैसा समय नहीं है। आजकल राष्ट्रीयता का और सांप्रदायिक एकता का बोलबाला है और ऐसे समय में ऐसे ही साहित्य का सर्जन भी देशहितकारक होगा।

हमारे सामने 'आर्यावर्त' ही एक ऐसा महाकाव्य है जो इस घृणित दोष से मुक्त है—पूर्णतः पाकसाफ है। ऐतिहासिक आधार पर कवि ने अपने आपको कितना वश में रखकर इस

महाकाव्य का निर्माण किया है, यह देखकर पाठकों को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। 'आर्यावर्त' के कथानक के-से कथानक को लेकर कवियों को कैसा काव्य-निर्माण करना चाहिये, कवि ने इसका आदर्श उपस्थित कर दिया है।

कवि ने गोरी का चित्रण एक महान् योद्धा और सुसंस्कृत पुरुष के रूप में किया है। 'आर्यावर्त' का गोरी वीर है, सुसंस्कृत है, वीरपूजक है, महान् है और सहृदय है। वह आदर करना जानता है और खासकर स्त्री जाति को तो वह बहुत ही ऊँची दृष्टि से देखता है। गोरी को कवि ने अनार्य कहा है। ठीक है, गोरी आर्य जाति का नहीं है। फिर भी कवि गोरी के प्रति सदय है। वह सांस्कृतिक दृष्टि से आर्यों को जितना उच्च बतलाता है, उतना ही महान् अनार्यों का भी चित्र अंकित करता है। यदि गोरी वीर न होता, महान् न होता, तो माँद में घुसकर शेर को पकड़ना हँसी-खेल नहीं था।

गोरी का कैसा उज्ज्वल चरित्र है, उसका दिग्दर्शन ऊपर करा दिया गया है और यथेष्ट उदाहरण भी दिये गये हैं। उनका प्रभाव हिन्दू-मुस्लिम-सद्भाव पर जो पड़ता है, वह अवर्णनीय है। इस गुण से 'आर्यावर्त' आर्यों का जैसा प्रिय काव्य होगा वैसा ही आर्येतरों का भी। यहाँ गोरी की दो-एक अनूठी उक्तियाँ सुन लीजिए, जो उसके हृदय की अगाधता का परिचय देती हैं :—

फिर भी सराहता हूँ वीरता मैं वैरी की
हारा, किन्तु जीत से भी गौरवपूर्ण हार में।

× × ×

मैंने यह सत्य सीखा पूर्वजों की चाल से
वीरता की पूजा भगवान की ही पूजा है।

ध्वनि-व्यंजना

आचार्य ध्वनिकार के मत से ध्वनि ही उत्तम काव्य होता है। ध्वनि में व्यङ्ग ही की प्रधानता रहती है। प्रधानता से अभिप्राय है, व्यङ्ग का अधिक चमत्कारक होना। कहने का अभिप्राय यह कि जहाँ शब्द और अर्थ स्वयं साधक होकर किसी साध्य-विशेष—चमत्कारक अर्थ को अभिव्यक्त करें, वह ध्वनिकाव्य है।

आधुनिक विद्वान् भी, रस, अलंकार और गुणों के स्थान पर ध्वनि को ही काव्य का प्रधान गुण मानने लगे हैं। इसी से जहाँ देखिए, वहीं आधुनिक साहित्य में व्यंजित, व्यंजना आदि शब्दों की बाढ़-सी आ गयी है। पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षा-सम्पन्न साहित्यिक ध्वन्यालोकानुमोदित ध्वनि की अपेक्षा आधुनिक काव्य की ध्वनि-व्यंजना को पाश्चात्य काव्य-साहित्य की व्यंजना (Sugestiveness) के कहीं अधिक निकट समझते हैं। किन्तु, यह विचारणीय विषय है।

अब देखना चाहिए कि ध्वनि-व्यंजना की दृष्टि से 'आर्यावर्त' की पंक्तियाँ चमत्कारक हैं कि

नहीं। भारतेश्वरी संयोगिता अपने पिता जयचंद को जो पत्र लिखती हैं, उसकी ये चार पंक्तियाँ हैं—

भूलें मत स्वप्न में भी इस कटु सत्य को
भारत-अधीश्वर हैं सोये महानिद्रा में।
किन्तु तलवार अभी जागती है उनकी
और वैसा ही कड़ा पानी है चढ़ा हुआ।

यहाँ तलवार में साध्यवसाना लक्षणा है। महारानी संयोगिता ने अपने को पृथ्वीराज की तलवार में अध्यवसित किया है। एक वीर राजा की वीरपत्नी अपने आपको अपने पति की तलवार कहकर जो अपना परिचय देती है, उससे ध्वनित होता है कि रानी ने जयचन्द को पृथ्वीराज की उस तलवार की याद दिलायी है जिसका जौहर संयोगिताहरण के समय जयचन्द देख चुका है। यही नहीं, इससे यह और भी ध्वनित होता है कि यदि आप अपने को आर्य-जननी भारतमाता के योग्य आर्य-पुत्र (संस्कृत साहित्य में आर्यपुत्र पति को कहते हैं। यहाँ वह अर्थ नहीं है।) नहीं सिद्ध करेंगे तो कड़े पानीवाली तलवार की तरलता का मजा चखना पड़ेगा। यह भी ध्वनित होता है कि यदि आप गोरी के पक्ष से लड़ेंगे, तो मैं पुत्री होकर भी पिता को चोट पहुँचाने से हाथ नहीं खींचूँगी। ऐसी शक्ति-स्वरूपा स्त्री अपने पति की तलवार की योग्य अधिकारिणी है, इसमें सन्देह नहीं। एक उदाहरण और लें :—

जानती हूँ, मुझसे अधिक सभी व्यग्र हैं
देखने को वीर आर्यपुत्र सम्राट को
फिर सिंहासन पर आर्यपति रूप में।
अतएव अब मैं अधीरता हृदय की
चाहती नहीं हूँ व्यक्त करना अधीर हो।

संयोगिता के लिए पृथ्वीराज प्राणाधार थे और देश के लिए एक सम्राट्। संयोगिता की विकलता एक प्रकार की थी और देश की दूसरे प्रकार की। गोरी की सेना का सफाया हो गया और सम्राट् नहीं मिले। उस समय की महारानी की सेनापति के प्रति यह उक्ति है। अंतिम दोनों पंक्तियों से यह ध्वनित होता है कि अपनी विकलता न प्रकट करने पर भी सेनापति आदि अवश्य ही सम्राट् को ढूँढ़ेंगे। उसके यह न कहने पर भी कि जल्दी ही मेरे प्राणाधार की खोज करो नहीं तो मैं आत्मघात कर लूँगी, इत्यादि ध्वनित हो जाते हैं। मुझसे अधिक सभी व्यग्र हैं, इस पंक्ति में उसकी भी अधिक से अधिक व्यग्रता व्यञ्जित होती है। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि महारानी अपने व्यक्तिगत प्रश्न को—प्राणाधार के अनुसन्धान की विकलता को—दबाकर राष्ट्रगत प्रश्न को ही प्रधानता देती है। वह प्रकट कर देती है कि जनता महाराज की खोज अपनी गरज से करे, अपने लिए करे। उसने इस पंक्ति से यह भी व्यंजित किया है कि मैं जनता, सेना और सेनापति का बहुत ही विश्वास करती हूँ :—

'जानती हूँ, मुझसे अधिक सभी व्यग्र हैं।'

और जिसपर जितना बड़ा विश्वास किया जाता है वह विश्वास गम्भीर उत्तरदायित्व बनकर उस व्यक्ति को उतना ही गम्भीर स्थिति में पहुँचा देता है—फिर तो 'करें या मरें' का ही एक मार्ग रह जाता है। यह बात स्वाभाविक है कि रानी अपने पति को प्राप्त करना चाहती है; पर सीधे नहीं, घूमकर—याने जनता अपने सम्राट् के रूप में राजा का उद्धार करे और गोरी के फन्दे से उनके छूट जाने पर फिर तो यह प्रश्न ही नहीं रह जाता कि रानी को अपने प्रियतम की प्राप्ति के लिये अलग से भी कुछ करना होगा। अब इसकी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

कविरानी की एक उक्ति है:—

'जिस युद्ध में है लुटा भाग्य आर्य जाति का।'

कविरानी के कहने से यही ध्वनि निकलती है कि आपके पति महाराज पृथ्वीराज मारे गये। वे यह नहीं कहतीं कि आर्य-सेना पराजित हो गयी या गोरी विजयी हो गया। इन दोनों बातों से इस बात की सम्भावना की जा सकती थी कि सम्राट् जीवित हैं। यहाँ देश के पराधीन होने की बात वा देश के सत्यानाश होने की बात भी कविरानी की बात को उतनी कारगर नहीं बना सकती, जितनी कि आर्य जाति के भाग्य लुट जाने की बात। क्योंकि, पृथ्वीराज ही उस समय आर्य जाति के शिरोमुकुट थे—सौभाग्य थे। उसके लुट जाने की ध्वनि ही है पृथ्वीराज की मृत्यु। यह गूढ़ व्यञ्जना सहृदय-संवेद्य ही है। इस पंक्ति की अन्यत्र भी कुछ चर्चा की गयी है। इस प्रकार 'आर्यावर्त' में ध्वनि-व्यञ्जना के अनेकों उदाहरण हैं और अगूढ़ व्यंग्य तथा गुणीभूत व्यंग्य की पंक्तियों की तो भरमार है।

'आर्यावर्त' और प्रकृति

प्रधानतः काव्य के दो क्षेत्र हैं—एक मानव-जीवन और दूसरा प्रकृति। प्राचीन कवियों ने मानव-जीवन के सामने प्रायः प्रकृति की उपेक्षा ही की है। किन्तु, प्राकृतिक पदार्थों में मानव को आकर्षित करने की जो अपरिमित शक्ति है, वह उपेक्षणीय नहीं है। ऊषा, सन्ध्या, रंग भरे बादल, तारों भरी रात, हरी-हरी दूबों पर के मोती-से शिशिरविन्दु, लोल लहरें, झरते झरने, लहलहाते खेत, मुस्काती कलियाँ, हँसते फूल, गाती चिड़ियाँ, पत्तों के मर्मर, कीट-पतंगों के नेत्ररंजक रंग-रूप, हरे-भरे पेड़-पौधे आदि किसके मन को लुब्ध-मुग्ध नहीं कर देते ? यदि कविता के साथ इनका संयोग हो जाय, तो फिर सोने में सुगंध ही समझिये। आज की हिन्दी-कविता में प्रकृति के साङ्गोपाङ्ग, सुन्दर और सुकुमार वर्णन होने लगे हैं। प्रकृति तथा जीवन का एक सामञ्जस्य स्थापित हो गया है और प्रकृति मानव-भावनाओं की अनुगामिनी हो गयी है। 'आर्यावर्त' ऐसे प्रकृति-वर्णन से खाली नहीं।

रात शेष हो गयी, उमंग भरे मन में
आयी ऊषा नाचती लुटाती कोष सोना का,

चाँदी रम्य चन्द्रमा लुटाता चला हँसता
और निशारानी मोदपूरिता मनोहरा
सीपज लुटाती चली अंजली में भरके।
त्रिविध समीर आया सौरभ बिखेरता
पच्छियों ने गीत और गीतों ने मधुरिमा
अपनी लुटायी—धन्य धन्य किया निजको,
और निज महिमा लुटा के तम लज्जा से
भाग छिपा कायरों के मन में हताश हो।

इसमें प्रातःकाल का वर्णन है और चार ही पाँच बातें हैं—ऊषा आयी, रात बीती, हवा बही, चिड़ियाँ बोलीं और तम भागा। इन्हीं बातों का कवि ने अपनी कवित्वमयी भाषा में लाक्षणिक चपलता के साथ ऐसा वर्णन किया है कि इनकी प्रेषणीयता अत्यधिक बढ़ गयी है और ये मन में मोहकता के साथ घर कर लेती हैं। ऊषा की स्वर्णमयी आभा का फैलना, उज़्ज्वल चाँदनी का मिटना, शस्यों पर शिशिर-बिन्दुओं का बिखरना, पक्षियों का मधुर गाना और तम का तिरोहित होना, ये सब मिलकर प्रात:काल का ऐसा मनोहर दृश्य उपस्थित करते हैं कि एक चित्र-सा बन जाता है। ऊषा, चन्द्रमा, रात्रि, समीर, पक्षी और तम इन पाँचों में जो मानवीकरण अलंकार है उससे मानवी भावनाओं का प्रकृति के साथ एक ऐसा सामंजस्य स्थापित हो जाता है कि ये सभी महा दानी से प्रतीत होने लगते हैं और तम का लज्जित होकर भागना सत्य-सा भासित हो जाता है। इस अभिव्यजनावाद के युग में, जब कि साधना ही सब कुछ हो गयी है और साध्य की कुछ पूछ नहीं है, ऐसा साध्य-साधना का सुन्दर समन्वय सर्वत्र सुलभ नहीं है।

रात्रि आगमन की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये :—

आयी मोदपूरिता सोहागवती रजनी
चाँदनी का आँचल सँभालती सकुचती
गोद में खेलाती चन्द्र, चन्द्रमुख चूमती !
झिल्ली-रव गूँजा, चलीं मानो वनदेवियाँ
लेने को बलैया निशारानी के सलोने की।

इन पंक्तियों में एक प्रकार का जैसा साङ्गरूपक अलंकार है वैसा ही पाश्चात्य मानवीकरण अलंकार भी है। इससे गोदभरी सुहागिनी नारी में और चन्द्र खिलौनेवाली रजनी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। 'चन्द्र चन्द्रमुख चूमती' जैसे शब्दालङ्कार पर कवि की लेखनी को चित्त चूम लेना चाहता है। लाक्षणिक सफलता का भी कैसा चारु चमत्कार है। वनदेवियों के बलैया लेने में अनुपम उत्प्रेक्षालंकार है। चन्द्रोदय के साथ रात्रि के आगमन का अलंकारों के आश्रय बिना लिये ही कितना सुन्दर वर्णन है। गोदभरी नयी नवेली सोहागवती का सकुचाना स्वभाविक है। फिर वह

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar

आँचल सम्हाले न तो क्या करे। एक दो को कौन कहे, उसे तो संसार के सामने होना है। जब निशारानी वनदेवियों को चाँदनी की चादर ओढ़ाकर चकमक कर देती हैं तब उनके सलोने चाँद की बलैया लेने से वे कैसे बाज आवें !

सूर्योदय का वर्णन कितना प्रभावशाली है :—

अंधकार-गज भागा गहन विपिन में
दिनपति प्रकटा सरोष मृगराज-सा
केसर सी किरणें विकीर्ण हुईं नभ में।
भाग के मृगांक छिपा अस्ताचल ओट में
भय था कि मृग-चिह्न देख कहीं केसरी
टूटे मत—भाग गयी रजनी किराती सी
आँचल में भरके नखत-गुंजा भय से।

इस उद्धरण की अंतिम दो पंक्तियों में ही कुछ लाक्षणिक चपलता है। केवल अलंकार के आश्रय से वाच्यार्थ ही का चमत्कार दिखाया गया है। इसमें उपमा, रूपक और काव्यलिंग तीन अलंकार हैं। दिनपति में कुछ-कुछ उष्णता और तीक्ष्णता का समावेश हो रहा है। इससे उन्हें सरोष मृगराज की उपमा दी गयी है। फिर उनके सामने अंधकार-गज कैसे ठहर सकता है ! क्योंकि केसर-सी उसकी किरणें विकीर्ण हो रही हैं। फिर तो चंद्रमा का छिपना निश्चय है। किन्तु है वह मृगांक। यही कारण है कि वह केशरी से भय खाता है कि कहीं वह टूट न पड़े। मृगांक—मृगचिह्न और केसरी की कल्पना कितनी सकारण है ! फिर रात और तारे ही कैसे रह सकते हैं। रात काली है। काली रात में ही तारे अधिक दिखाई पड़ते हैं। भले ही ये अमीरों के लिए नीलम के थाल के मोती हों किन्तु, किरातिनी के लिये गूँजे का जो मोल है वह इनका मोल नहीं। इसीसे वह किराती सी है। तारों के लुप्त होने की कल्पना भी औरों के लिए अकल्पनीय है !

एक धूसर संध्या की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये और कवि की कल्पना की उड़ान का मीठा-मीठा मजा लूटिये।

रात ने न देखा कभी रवि को, न रवि ने
रात को निहारा भूलके भी आँख भरके,
किन्तु निशा रोती है अधीरा बनी रात को
रवि के वियोग में, इधर रवि दिन में
हाय तपते हैं, निशारानी के विरह में
कैसी यह प्रीति है, वियोग यह कैसा है !

इसमें न तो वाच्यार्थ का चमत्कार है और न लक्षणा का। अलंकार का भी आभास नहीं मिलता। तथापि यह जो कुछ है, अपूर्व है। कला और कल्पना का एक सुन्दर दिग्दर्शन है। उपर्युक्त

वर्णनों में ये दोनों बातें तो हैं ही और उनके साथ और भी बहुत कुछ है जिससे कविता अनुपम और असाधारण हो गयी है। और, यहाँ तो और कुछ न रहने पर भी यह वर्णन सीधे हृदय पर चोट करता है। कहिये तो भला बिन देखे की प्रीति कैसी! भले ही आधुनिक कवि भावी पत्नी का प्रेम-पँवारा गावें; क्योंकि एक दिन न एक दिन उनका संयोग संभव है। किन्तु, यहाँ तो रात ने न देखा कभी रवि को और न रवि ने रात को कभी निहारा। यही क्यों, कभी ये दोनों को प्रलय तक निहारेंगे भी नहीं; फिर भी परस्पर अपार प्रेम। प्रेम ही नहीं, रोना-धोना, तड़पना और तपना भी। यहाँ रात में रजनी के रोने का वर्णन समुचित है; क्योंकि उसका वैसा ही वातावरण हो जाता है और दिन में रात्रि-वियोग से रवि का तपना तो सभी के लिये सहजगम्य है। रोना और तपना प्रीति और वियोग के कैसे सुन्दर प्रतीक हैं। इस उद्धरण का भाव तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' के भाव से भी बढ़ जाता है।

किसी के रोके नहीं रुकनेवाले कालचक्र के तेजी से चक्कर काटने का, कवि कैसा परिवर्तनशील चित्र षट्ऋतुओं के रूप में अंकित करता है:—

मधु ऋतु शेष हुई, आया ग्रीष्म दैत्य-सा
आये जलधर नभ-सिंधु में जहाज से।
शेष हुई वर्षा भी, शरद् आया हँसता
आयी अन्नपूर्णा लुटाती स्वर्ण खेतों में।
फिर हेमंत आया—व्यग्र हुई वसुधा
पीले पड़े पत्ते, आया शिशिर सिहरता।
इस भाँति ऋतुचक्र घूमता है वेग से।

जैसा वेगवान ऋतु-चक्र है, वैसा ही कवि का वर्णन भी वेगवान। छ पंक्तियों में ही छः ऋतुयें समाप्त। कवि को यहाँ यही दिखलाना है कि समय बीतते देर नहीं लगती। जीवन भी इसी प्रकार द्रुत गति से भागा जाता है। सब कुछ क्षणस्थायी है। अतः "काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।" फिर तो "अब पछताये होत क्या चिड़िया चुग गयी खेत।" खेतों में सोना लुटाती हुई अन्नपूर्णा के आने के भाव पर लहालोट होकर आप अपने को भी कवि-प्रतिभा पर लुटा दीजिये।

'आर्यावर्त' के कवि ने प्रकृति-वर्णन का जहाँ जैसा सुवसर पाया है, वहाँ वह वैसा वर्णन करने से बाज नहीं आया है। रात्रि, ऊषा, संध्या आदि का वर्णन एक ही जगह नहीं, कई जगह आया है, किन्तु नया-नया रंग-रूप लेकर, नयी-नयी कल्पनाओं के पंख पर चढ़कर।

'आर्यावर्त' में रस चमत्कार

'आर्यावर्त' में हास्य रस को छोड़कर सभी रसों का सुन्दर समावेश किया गया है। सभी रस हँसते खेलते नजर आते हैं। उनमें भावों की अभिव्यक्ति ही ऐसी है। इसमें वीर रस की ही

प्रधानता है। श्रृङ्गार रसराज है, किन्तु इसमें और रस अंगी वीर रस के ही अंगीभूत हैं। इसमें वह नाम मात्र का ही आया है पर पोषक रूप में नहीं। अग्नि के साथ पुष्प का कैसा सम्बन्ध! फिर भी पूजा के लिए कुछ पुष्प तो चाहिए ही। ये पुष्प अग्नि में समर्पित होने पर जैसे आग बन जाते हैं वैसे ही श्रृङ्गार रस भी वीर रस में मिल-सा गया है। इसमें श्रृङ्गार रस रस बरसाता नहीं, बस उससे फुहियाँ भर पड़ जाती हैं। कविरानी कहती हैं:—

त्यागकर इस तुच्छ दासी को कृपानिधे!
आपने क्यों नेह जोड़ा कुलटा कृपाण से?
धोखा दिया इसने सभी को मँझधार में,
चाटती है रक्त यह राक्षसी सदैव ही
निज प्रियतम का, निजाश्रितों का स्वाद से।

कविरानी की उक्तियों से विरह की वेदना टपकती है, और वह कवि चंद को कुलटा कृपाण की ओर से विमुख करके अपनी ओर उन्मुख करना चाहती हैं। क्योंकि. वह प्रियतम की दासी हैं और कृपाण प्रियतम का ही खून चाटनेवाली है। कृपाण-सी मँझधार में वह धोखा देनेवाली नहीं। यही कविरानी कवि चंद को आगे चलकर उत्साहित और उत्तेजित करके वीर रस में सराबोर कर देती हैं।

जिस दिन गोरी के दुर्ग में गजराज पर सवार होकर प्रतापी पृथ्वीराज गये:—

उस दिन से ही प्रेममत्ता सुकुमारियाँ,
निज प्रेमियों के रूप पर आर्यपुत्र का,
स्थापित स्वरूप कर कल्पना के बल से
सुप्त रस-भावना को दीप्त करने लगीं।

अपने प्रेमियों के स्वरूप पर पृथ्वीराज के रूप को स्थापित करके अर्थात् अपने प्रेमियों को ही पृथ्वीराज समझती हुईं सुकुमारियाँ अपने मन की गुप्त रस-भावना को जगाने लगीं—दीप्त करने लगीं। रस शब्द कितना व्यापक है, यह सोचने की बात है। यहाँ सुप्त रस-भावना ही सारी परिस्थिति को स्पष्ट कर देती है।

श्रृङ्गार रस की उपर्युक्त पंक्तियाँ वीर रस की मरुभूमि में उद्यान (ओएसिस) के ही समान हैं। पहले उद्धरण में कृपाण की कथा आने से और दूसरे में पृथ्वीराज की प्रताप-भावना से श्रृङ्गार श्रृङ्गार-सा रह नहीं जाता। 'आर्यावर्त' में एक ही स्थान पर शान्त रस ने अपनी झलक दिखाई है। जयचंद की मृत्यु पर कवि चंद की यह शोकोक्ति है:—

इस महानाटक के सूत्रधार प्रभु हैं
हम सब पात्र हैं, तथापि नहीं जानते
कब शेष होगा अभिनय और हाय रे!
होगा पटाक्षेप कब—कैसी है विचित्रता।

कोई नहीं कह सकता है त्रैलोक्य में
यह भवनाटक सुखांत या दुःखांत है !

शांत रस की ये पंक्तियाँ रूपक के रूप में अनुपम हैं। सचमुच यह विचित्र बात है कि भवनाटक के लीलामात्र होते हुए भी हम भव के अभिनय से अनभिज्ञ हैं और कुछ नहीं समझते कि भवनाटक-सूत्रधार कब क्या करनेवाला है।

'आर्यावर्त' का अद्भुत रस सचमुच अद्भुत है और सभी अद्भुत वर्णनों से अद्भुत है। मन-मन भर के लोहे के सात तवे एक बाण मारकर पृथ्वीराज के तोड़ देने की चर्चा के साथ यह जन-रव भी खूब फैला था :—

मैंने सुना काफिरों का एक ऐसा देश है
होती है फसल जहाँ मोतियों की खेतों में।
लाल और पन्ने फलते हैं सभी वृक्षों में,
सोने के पहाड़ और भूमि मखमल की,
खेलते हैं बच्चे वहाँ अंटे बना हीरा के।
दूध, मधु, घी की नदियाँ हैं—ढोर खाते हैं
मेवे, और दूध मधु पीके रह जाते हैं,
पानी तो फकत मरतों को दिया जाता है।
आँगन बुहारती हैं परियाँ बहिश्त की
शेरनी के दूध पीते बच्चे छीन लेते हैं
घुसकर माँद में—हैं बच्चे उस देश के,
ऐसे निर्भय वीर, सोचो जरा तुम भी।

सुननेवालों को भले ही ये बातें अद्भुत प्रतीत होती हों; किंतु कवि ने अपनी जननी-जन्मभूमि के सुख-सौभाग्य का सच्चा चित्र खींचा है। दूसरे देशवालों के लिए भले ही अद्भुत का यह उदाहरण हो, पर हमारे लिए भारत के अतीत को याद कर आज यह करुण रस का उदाहरण बन जाता है।

एक करुण रस का कारुणिक चित्र देखिए। गोरी के कारागार में पृथ्वीराज बंदी हैं :—

कोठरी में थोड़ा-सा पयाल था बिछा हुआ,
मृण्मय पात्र जलपूर्ण एक कोने में,
रक्खा था, भरी थी नमी गच–दीवारों में,
आती थी महक उस कोठरी से 'सील' की।

तभी तो कवि ने कारागार को 'देखकर काँप उठे कुम्भीपाक पत्ता-सा' कहा है। देखिए—राजा की क्या दुर्दशा है :—

सिर पर रूक्ष बालों का एक वन था

मूँछें थीं चढ़ी हुईं, परन्तु सारा चेहरा
दाढ़ी और मूँछों से भरा था—शैवाल-से
मानों सरसी में कोकनद हो छिपा हुआ।
दुर्बल शरीर था—थे 'टाट' पहने हुए
जूएँ रेंगती थीं, बेड़ियाँ थीं पड़ी पैरों में।

उमड़े हुए हृदय से इसकी क्या व्याख्या हो सकती है ! दिल्लीश्वर की इस दुर्दशा पर तो करुणा की आँखों से भी गंगा-यमुना की धार वह जाती है।

रौद्र और वीर रस का तो 'आर्यावर्त' आकर ही है। पृथ्वीराज की रौद्र मूर्ति जब-जब दुश्मनों के सामने आयी, तब-तब भयानक रस मूर्तिमान होकर खड़ा हो गया है। वीभत्स रस का दृश्य युद्ध-भूमि में देखिए।

'आर्यावर्त' के अलंकार

आरंभ में कह आये हैं कि प्रसाद-गुण-विशिष्ट 'आर्यावर्त' अलंकारों से अलंकृत है। पाठकों ने न तो ऐसा अलंकारपूर्ण काव्य ही पढ़ा होगा और न श्रोताओं ने किसी काव्य में ऐसी अलंकारों की झंकार ही सुनी होगी। आलङ्कारिक पाठकों को सर्वत्र ही अलंकार का आनन्द प्राप्त होगा। कहना चाहिए कि सारा काव्य ही अलंकारमय है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकारों की इतनी भरमार है कि कोई भी सहृदय कवि कल्पना की प्रशंसा का पुल बाँध देगा। बानगी के लिए कुछ उदाहरण लें :—

रानी पहने थी पीत चीनांसुक उसमें
शोभती थी जर की किनारी नेत्र-रंजिनी।
मानों शची रानी घिरी सोने की घटाओं से
और लिपटी हो जलधर धौत-दामिनी।

यहाँ प्रस्तुत पीत चीनांसुक और जर की किनारी में अप्रस्तुत सोने की घटा और दामिनी की सम्भावना कितनी मनोमोहक है, सहृदय ही समझें।

उन्नत उरोज पर कवच कसे हुए
वंदिनी है मानो सुकुमारता हृदय की,
क्रूर कर्तव्य-रूपी वज्र के कपाट में।

समयानुसार कवि की उत्प्रेक्षा प्रशंसनीय ही नहीं, पुरस्करणीय भी है। एक उदाहरण और लें :—

ऊषा गयी, नभ-गंगा को भर लाली से
मानो खेल होली रात भर घनश्याम से,

भोर होते, धोकर अबीर निज मुख का
रविनन्दिनी में वृषभानुनन्दिनी गयी।

यहाँ कल्पना को या तो पारावार-पारगामिनी या अंबरचुंबिनी के सिवा कुछ नहीं कहा जा सकता। मुख पर अबीर का कैसा अंबार है कि कालिन्दी के नील नीर तक का लाल हो जाना वर्णित है। दोनों नन्दिनियाँ भी यहाँ अमन्द आनन्द दे रही हैं।

'आर्यावर्त' का कवि उत्प्रेक्षाओं का इतना रत्नाकर है कि लिखते-लिखते तड़-से एक उत्प्रेक्षा-रत्न को ऐसी बारीकी और कारीगरी से जड़ देता है कि पाठक चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकते। दो उदाहरण लें :—

दूरस्थित वन की यों रेखा दिखलाती थी
मानो नील अंबर में असित किनारी हो।
एक ओर टूटी तलवार थी भयंकरा
मानो गिरा अंबर से चन्द्रमा द्वितीया का।

× × ×

ठौर-ठौर ज्योतिर्मय रत्न हैं जड़े हुए
मानों दीप्तिमान हैं नखत नभोदेश में।

उपमा अलंकार की अनुपमता देखिए :—

चित्रवत् सेना घेर चारों ओर थी खड़ी
घूमता था दिल्लीपति बीच में मृगेन्द्र-सा।

समर-भूमि में पड़े राजच्छत्र को देखकर कवि चंद कहता है :—

एक दिन इसकी सुखद स्निग्ध छाया में
सारा देश सोता था सुरक्षित ज्यों माता के
आँचल की छाया में अबोध शिशु सोता हो।

बन्दी पृथ्वीराज गोरी के किले में शब्दवेधी बाण मारने जा रहे हैं। उन्हें भली-भाँति बाँधकर हाथी पर बिठाया गया है।

पृथ्वीराज दीख पड़े बैठे गजराज पर
जैसे उदयाद्रि पर पूर्ण शशि बैठा हो।
चमक रही थीं बर्छियाँ ज्यों दिव्य तारे हों,
दिन में विभावरी का दृश्य अनुपम था।

कवि ने यहाँ बड़े सुन्दर ढंग से सीधे-सादे शब्दों में उपमा के साथ विभावरी का रूपक भी बाँधा है।

कवि-कंठ गूँज उठा स्वाति-मेघ-मंद्र-सा

चातक-से तृषित उपस्थित जो थे वहाँ
एक-एक बूँदवत् एक-एक शब्द को
लालायित होकर हृदयस्थ करने लगे।

इसमें तीन सुन्दर उपमाएँ हैं और एक साङ्ग रूपक।

नख-दन्त-हीन वृद्ध व्याघ्र-सा भयावना
आया जब चारण—सतर्क सभा हो गयी।
गान रुका और रुकी वेणु-वीणा मुखरा
मानो देख ग्रीष्म की ज्वालामयी मूर्ति को
सरस वसंत का हृदय थहरा उठा।

इसमें उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों हैं। कवि ने प्राकृतिक पदार्थों से ऐसी अलंकार की सरस सुन्दर सामग्री चुन ली है, मानो प्रकृति ने कवि की प्रतिभा से प्रसन्न होकर उसको पुरस्कार में भेंट दे दी हो।

उपमा और उत्प्रेक्षा का एक साथ एक सुन्दर उदाहरण और लें :—

चमक रही थी तलवार आर्य-पुत्र की
आँखें झुलसाती हुई कौंधा के समान ही।
मानो लिये ज्वालामय वज्र निज कर में
वज्री वीर वासव घिरा हो मेघ-दल से।

कितने उदाहरण दिये जायँ। एक से एक उत्तम तथा नयी से नयी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ हैं।

कवि ने एक बात की बड़ी गड़बड़ी की है। उसने उत्प्रेक्षालंकार के वाचक 'मानो' शब्द के ऐसे विचित्र प्रयोग किये हैं कि मार्मिक आलंकारिक भी इस चक्कर में पड़ जायँगे कि 'मानो' शब्द के कारण उत्प्रेक्षा मानें या अन्यान्य अलंकारों के लक्षण होने से अन्यान्य अलंकार। इस शास्त्रार्थ की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

एक उल्लेख अलंकार का यहाँ उल्लेख किया जाता है। दुर्ग के जयघोष ने जब दिशाओं को दहला दिया तब कौन क्या सोचता है :—

घनघोष समझ मयूर लगे कूकने
समझा गजेंद्र ने दहाड़ मृगराज की।
सागर ने समझी प्रभंजन की गर्जना,
पर्वतों ने समझी कड़क महावज्र की।
गंगाधर चौंके जयघोष को समझके
गंगा आ रही है ब्रह्मलोक से गरजती।

जनक के धनुष-यज्ञ में राम को राजाओं ने भिन्न-भिन्न भावनाओं को लेकर देखा था, वैसे ही यहाँ की दशा है। फिर क्यों न हम कहें कि "जाकी रही भावना जैसी। जय-धुनि को समझी तिन तैसी।"

काव्यलिंग अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण लें :—

मानव है कोमल सिरिस फूल से भी किन्तु
वज्र से भी कठिन हृदय दिया विधि ने।
जिन नयनों से करुणा की सुरधुनि दिव्य
फूट पड़ती है उन्हीं आँखों से प्रलय की
ज्वाला सर्वग्रासिनी विभासिनी भड़कती।

यहाँ कोमल और कठिन को सार्थक करने के लिए अंतिम तीन पंक्तियों में कारण का कैसा निर्देश है।

'आर्यावर्त' में प्राचीन अलंकारों के दिग्दर्शनमात्र करा दिये गये हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से देखने पर अधिकांश अलंकारों के उदाहरण इसमें पाये जा सकते हैं।

पश्चिमी काव्यालंकारों में तीन अलंकार मुख्य हैं—एक मानवीकरण (Personification) दूसरा ध्वन्यर्थ-व्यंजना (Onomatopoeia) और तीसरा विशेषण-विपर्यय (Transferred epithet)। आधुनिक हिन्दी-कविता में आजकल इनका ही बोलबाला है।

मानवीकरण अलंकार के अनेकों उदाहरण पिछले उद्धृत अंशों में आ गये हैं और विशेष कर 'आर्यावर्त और प्रकृति' शीर्षक में। यहाँ भी एक सुन्दर उदाहरण देखें :—

बिखर गयी थीं वन-फूलों की पँखुरियाँ
वन-पथ पर, मानो रवि की सुकोमला—
प्रेयसी विभा के लाल-लाल कोकनद-से
कोमल पदों में नहीं काँटें चुभें वन के।

यहाँ विभा को प्रेयसी नारी बनाकर उसके कोमल चरणों में काँटे न चुभने की कल्पना कर मानवी-करण किया गया है। इससे काव्य की नाटकीय प्रभविष्णुता अत्यधिक तो हो ही गयी है, साथ ही उसकी व्यंजनाशक्ति और प्रभावशालिता की भी अभिवृद्धि हो गयी है। इस अलंकार ने काव्य में प्राण-से फूँक दिये हैं और भाव तो सीधे मस्तिष्क में पैठ पाठकों को विभोर कर देता है।

ध्वन्यर्थ-व्यंजना का अभिप्राय है शब्दों के नाद-द्वारा ही अर्थ की व्यंजना करना। इसके अमूल्य उदाहरण ये हैं :—

धधक रहा है रुद्र तेज यों नयन से
जैसे हो निकलती दुनाली से तड़पती
ज्वाला वायुमंडल को फाड़ती-दहाड़ती।

× × ×

चिंता नहीं, फाड़ती है जिस भाँति मेघ को
छोटी-सी तड़िता तड़पके-कड़कके
फाड़ हम देंगे इस काल-तुल्य मेघ को।

× × ×

लोनी-लोनी नवल लताएँ लहराती हैं,
नाचती-सी आती है बयार मधुमास की,
मादक पराग भरे मधुकर खोये-से,
चूमा करते हैं कलियों के मुख मोद से।

× × ×

मंद-मंद मधुर मराल-जैसी गति से,
मंदिर की ओर चली चिन्तामग्न रूपसी।

इनकी व्याख्या ये आप ही आप हैं। इनसे नाद-व्यंजना की ही अभिवृद्धि नहीं होती, बल्कि संगीत की भी।

किसी कथन को विशेष रूप से अर्थगर्भित तथा गंभीर बनाने के विचार से विशेषण का स्थान-विपर्यय कर दिया जाता है। विशेषण-विपर्यय का एक उदाहरण लें :—

फिर हेमंत आया—व्यग्र हुई वसुधा
पीले पड़े पत्ते, आया शिशिर सिहरता।

शिशिर सिहरता नहीं, किन्तु शिशिर से लोग सिहरते हैं। यहाँ 'सिहरता' एक सिहरते मनुष्य का चित्र उपस्थित करता है। इस विशेषण-विपर्यय अलंकार से भाषा की चित्रमयता और अर्थव्यंजकता की श्री-वृद्धि हो रही है। कवि एक चित्र-सा खड़ा कर देता है। गीले गान के आदी पाठकों के लिए अब यह नया नहीं रह गया है।

एक आलंकारिक चित्र

यों तो 'आर्यावर्त' दिव्य चित्रों का चित्राधार है, पर एक चित्र हमें अत्यन्त सुन्दर जँचा—सो भी तुलनात्मक दृष्टि से। कालिदास से भी पहले महाकवि अश्वघोष का होना बतलाया जाता है। अश्वघोष महाकवि था और उसने 'बुद्ध-चरित' नामक एक महाकाव्य लिखा है। इस बुद्ध-चरित में अश्वघोष ने एक सुन्दर चित्र दिया है। सिद्धार्थ नगर देखने के लिए जा रहे हैं और पौर स्त्रियां विकल होकर छज्जों और गवाक्षों से उझक-उझक झाँक रही हैं। इसी दृश्य का अश्वघोष ने अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन किया है। वाल्मीकि और तुलसीदास ने भी ऐसे दृश्यों

का वर्णन अपने-अपने काव्य में किया है ; पर अश्वघोष इनसे बाजी मार ले गया है। अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि और परवर्ती तुलसीदास से भी वह वर्णन में बढ़ गया है।

'आर्यावर्त' में भी कवि ने एक प्रभावोत्पादक चित्र धर दिया है। जनकपुर के राजपथ से जाते हुए रामचन्द्र के प्रति जनकपुर की नारियों के हृदय में स्नेहात्मक भाव पहले से ही विद्यमान थे। और चाहे जो कुछ हो, जनकपुर में वे शत्रु तो थे नहीं। यदि रामचन्द्रजी को देखकर नारियों के हृदय में रागात्मक भाव उत्पन्न हों तो यह कोई अनहोनी बात नहीं कही जा सकती। लंका की सुन्दरियाँ यदि रामचन्द्र को देखकर अपनापन बिसार बैठतीं, तो रामचन्द्र की अलौकिक सुन्दरता की शानदार जीत थी, पर वैसा हो न सका। जनकपुर में रामचन्द्रजी की लुनाई पर मुग्ध होने का अनुकूल वातावरण पहले ही से तैयार था। जनकपुर की रमणियाँ उस वातावरण से पहले ही प्रभावित हो चुकी थीं—देखते ही मुग्ध हो गयीं। पर, 'आर्यावर्त' के कवि ने प्रतिकूल वातावरण में अनुकूलता की सृष्टि करके कमाल कर दिया है।

पृथ्वीराज हाथी पर चढ़े गोरी की नगरी में जा रहे हैं। वे गोरी के, गोरी की प्रत्येक प्रजा के शत्रु हैं। साथ ही विजातीय और विधर्मी भी हैं। जाति, धर्म और देश से भी वे गोरी की प्रजा से भिन्न ही नहीं, बल्कि विरोधी हैं। ऐसी दशा में पृथ्वीराज को देखकर पौर नारियों में घृणा या भय का ही संचार होना स्वाभाविक है ; पर हुआ कुछ दूसरा ही। बन्दी शत्रु राजा को देखकर:—

> पुत्रवतियों ने हाय, सोचा आह भरके—
> "धन्य-धन्य कोख वह, धन्य-धन्य दूध है,
> धन्य वह गोद और धन्य वह जननी,
> धन्य-धन्य सहना प्रसव-पीड़ा उसका।"
> सोचा पतिवालियों ने—"धन्य वह सेज है,
> धन्य वह सुन्दरी सोहागिन है विश्व में,
> पूजती थी ऐसे कन्दर्प दर्प-हर्ता को
> नित विकसित नेह-रूप के सुमन से।"
> उस दिन से ही प्रेममत्ता सुकुमारियाँ,
> निज प्रेमियों के रूप पर आर्यपुत्र का,
> स्थापित स्वरूप कर कल्पना के बल से,
> सुप्त रस-भावना को दीप्त करने लगीं।

सचमुच ऐसी माताएँ, सुहागिनें और प्रेमिकाएँ धन्य हैं, जो पृथ्वीराज-जैसे पुत्र, पति और प्रेमी पुरुष पाती हैं।

गोरी के नगर की नारियों की ही ऐसी दशा नहीं थी, वहाँ के पुरुष भी कुछ ऐसा ही सोचते थे :—

सोचा जनता ने—"आह, गौरव है कितना
होना प्रजा ऐसे देव-तुल्य नरनाह की।"
सोचा सैनिकों ने—"धन्य भाग्य उस सेना का
होगी जो अधीन ऐसे सिंह सेनानी के।"
सोचा वृद्धों ने—"बड़े पुण्य से ही अन्त में
प्राप्त होता है जब ऐसे पुत्र-रत्न का।"
सोचा युवकों ने—"यदि नेता मिले ऐसा तो
ठोकरों से धूल में मिला दें ब्रह्मांड को।"

जनता, सैनिक, वृद्ध और युवकों ने जो-जो सोचा है, वह उन सबों के लिए यथायोग्य ही है। इसीसे तो कहा गया है कि 'चकास्ति योग्येन हि योग्य संगमः।' योग्य से योग्य का संगम ही शोभाशाली होता है। कौन नहीं ऐसे नर-रत्न को पाकर अपना मनमानी सोच सकता है! दोनों उद्धरण उल्लेख अलंकार के कैसे सुन्दर उदाहरण हैं!!

'आर्यावर्त' के कुछ भावपूर्ण स्थल

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणों में अनेकानेक भावपूर्ण स्थलों का प्रकारान्तर से उल्लेख हो गया है तथापि पृथक् रूप से कुछ प्रसंगों का वर्णन करना आह्लादकर ही होगा।

भावों को समृद्ध करने की अनेक रीतियाँ हैं, उनमें एक प्रसंगगर्भता भी है—एक प्रसंग में दूसरे प्रसंग की अवतारणा करना। इससे अर्थगौरव की वृद्धि तो होती ही है, सहृदयों के हृदय भी आनन्दाम्बुधि में निमज्जित-से होने लगते हैं। एक उदाहरण लीजिए :—

भर गयी अमल - धवल - चारु चन्द्रिका
मानो भरा दुग्धफेन भूतल से नभ लों
रात बनी मूर्तिमती "शुक्लाऽभिसारिका"
आ रही है निज को छिपाये सित वस्त्र में।
अलंकार "मीलिता" सदेह देखा कवि ने,
किन्तु नीलिमा थी निशानाथ के कलंक की,
यह "उन्मीलिता" का सहज स्वरूप था।

चाँदनी रात है। दुग्ध-फेन की-सी अमल-धवल-चारु चन्द्रिका चारों ओर फैली है। प्रिय संकेत-स्थल को जानेवाली प्रमदा को अभिसारिका की आख्या दी गयी है। यदि वह श्वेत चाँदनी में श्वेत सुमनों से लदी-फदी श्वेताम्बरा होकर अभिसार करती है, तो 'शुक्लाभिसारिका' कहलाती है, नहीं तो 'कृष्णाभिसारिका'। यहाँ रजनी रानी स्वयं शुक्लाभिसारिका बन गयी है। रात चाँदनी में घुल-मिल गयी है। इससे 'मीलित' अलंकार सदेह देख पड़ता है, क्योंकि चाँदनी में रात का

तिरोधान वर्णित है। पर उसके एकान्ततः मीलित हो जाने में कुछ कोर-कसर रह गयी है। चाँद का कलंक तो नीला का नीला रह ही गया। इससे रात्रि का यह रूप 'उन्मीलित' अलंकार का हो जाता है। क्योंकि, 'उन्मीलित' अलंकार वहीं होता है, जहाँ कारणविशेष से भेद का कुछ कथन किया जाय। कवि ने रात्रि-वर्णन के प्रसंग में 'शुक्लाभिसारिका' नायिका तथा 'मीलित' और 'उन्मीलित' अलंकारों की ऐसी अवतारणा की है कि उसकी प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमतित्व की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। चमत्कार तो ऐसा है कि रीतिकाल के कवि भी मात हैं। ऐसी अनोखी सूझ-बूझ की उक्ति के लिए सभी सहृदय कवि के आभारी हैं।

कवि एक सुरम्य वन का वर्णन करता है जहाँ हरियाली है, झरने झरते हैं, पत्ते झिलमिल होकर हिलते हैं, बुलबुलें गाती हैं और दिन का समय है।

धूप और छाया खेलती है वहाँ हँसती
सत्य और माया मानो मुदित हृदय से
खेले जन-मानस में 'धूप-छाँह' बनके।

कवि की खेलती और हँसती, दोनों क्रियाएँ खूब सार्थक हैं। हवा से हिलती पत्तियों के कारण कभी छाया का आविर्भाव होता है और कभी प्रकाश का। क्या आँखमिचौनी का खेल इससे अच्छा हो सकता है? उसमें तो बारी आने में देर भी लगती है। किन्तु, इसमें तो अनवरत बारियाँ आयी ही रहती हैं। सूर्य की चमकीली किरणें चिकनी पत्तियों पर जब चकाचौंध पैदा करती हैं, तब क्या कभी हँसी उसकी समता कर सकती है? पर, हँसी के सिवा इसकी व्यंजना करने की दूसरी क्रिया हो ही क्या सकती है? धूप और छाया के लिए सत्य और माया यथायोग्य प्रतीक हैं। माया का प्रभाव जब बढ़ता है तब अन्धकार छा जाता है और सत्य का प्रकाश होते ही माया का आवरण हट जाता है। सत्यान्वेषी के सामने प्रकाशपुंज है और मायाधारी के सामने भीषण अन्धकार। इसमें वेदान्त का एक तत्व निहित है।

माया में पड़ा हुआ जीव संसारी बना हुआ है। माया के बंधन से जीव ऐसा जकड़ा हुआ है कि दिन-रात 'मेरे-मेरे' करने में ही मग्न है। सत्य परमात्मा-स्वरूप है। वह तभी जीव को प्राप्त होता है जब कि माया से मुक्त हो जाता है। मानव-मन माया के कारण सांसारिक विषयों में फँसा है और ज्ञान के कारण ममता के बंधन को तोड़ना चाहता है, तो सत्य का उदय हो जाता है। धूप और छाया बनकर इनके उदय और अस्त होते हैं। 'धूप-छाँह' कपड़ा धूप और छाया (छाँह) में ऐसा फिट बैठ जाता है कि कवि को दाद दिये बिना नहीं रहा जाता। संसार सत्य और माया का ही तो खेल है!

मराल-मंदगामिनी कविरानी के कमल-कोमल चरणों का कवि वर्णन करता है:—

लाल-लाल आलता-विनिंदित चरण में
चुभ जाती थीं वनफूलों की पँखुरियाँ;

बिखरी पड़ी थीं जो मधुप-पद-भार से।

लाल-लाल चरण थे, इतना ही कहने से कवि को संतोष नहीं होता। उन्हें आलता-विनिंदित भी बताता है। अच्छा होता, यदि विनिंदित की जगह विनिंदक होता। लाल-लाल विशेषण से चरणों की सुन्दरता ही व्यंजित नहीं होती; बल्कि कविरानी की स्वस्थता भी ध्वनित होती है। क्योंकि, बिना सुस्वास्थ्य के रक्ताधिक्य संभव नहीं, और वह आधिक्य इतना है कि पद-पद्मों में फूटा पड़ता है। दूसरी बात यह कि, उसमें इतना गहरापन है कि आलता को भी निन्दित बनाता है, वह उसकी समता नहीं कर सकता। वे चरण ललाई की गहराई में ही उसके विनिन्दक नहीं हैं; बल्कि उसकी तरलता के भी। क्योंकि चरणों में रक्त का संचरण ऐसा होता है कि उसमें ऐसा संचरण संभव नहीं। आलता-विनिन्दित का यह भाव भी हो सकता है कि चरण इतने लाल-लाल हैं कि उनमें आलता जो लाल होने के लिए लगाया गया है, उनसे विनिन्दित हो गया है। अभिप्राय यह कि लाल-लाल चरणों का आलता उनका उत्कर्षक न होकर अपकर्षक ही हो गया है। वे सुकुमार तो इतने हैं कि उनमें वनसुमनों की बिखरी पँखुरियाँ भी चुभ जाती थीं। ये पँखुरियाँ ऐसी सुकुमार थीं कि मधुपों के पद-भार से झर पड़ी थीं। अंतिम पंक्ति से चरणों की सुकुमारता का अत्यन्ताधिक्य ध्वनित होता है; क्योंकि फूलों की पँखुरियाँ ही इतनी सुकुमार हैं कि मधुप-जैसे साधारण कीट के पद-भार भी नहीं सह सकतीं। वे पँखुरियाँ भी उन लाल-लाल चरणों में चुभ जाती थीं, अंतस्तल तक—गहराई तक पहुँच जाती थीं, गड़ने की कौन बात कहे। कवि ने भावों को इस भाँति व्यंजित, व्यंजित क्या ध्वनित किया है कि वह गूढ़ से भी गूढ़ हो गया है।

दिन-शेष और चन्द्रोदय का चमत्कार देखिए—

शेष हुआ युद्ध और दिन शेष हो गया
सोने का समुद्र लहराया नभ-प्रांत में।
चढ़कर विद्रुम की नाव पर हँसते,
दिनमणि पहुँचे प्रतीची के भवन में।
खोलकर प्राची के गवाक्ष निशानाथ ने
झाँक कर देखा सरसी में रूप अपना।

दिन शेष होने और निशानाथ के उदय होने की कैसी सुन्दर अभिव्यञ्जना है। सूर्यास्त का समय समीप होने से आकाश में निराली लाली दौड़ जाती है। दिनमणि को अपनी प्रेयसी के पास जाना है; पर पार करना है सोने का समुद्र। स्वयं दिनमणि ही ठहरे। ऐसे समय और ऐसे व्यक्ति के लिए सोने का समुद्र पार करने को विद्रुम की तरल तरिणी ही उपयुक्त है। पहुँचना भी तो जल्दी है। जब तक शान-शौकत से नहीं जायँगे, तब तक प्रेयसी के प्रेम का आकर्षण ही कैसे करेंगे ? जब वे नाव से समुद्र पार कर आने की बात कहेंगे, तब क्या उनके प्रेम की प्रबलता पर वह अपनापन को बिसार न देगी ? निशानाथ ही क्या कम हैं ? निशारानी से मिलने के लिए वे

भी ताक-झाँक में लगे ही हुए हैं। किवाड़ खोलकर आते तो एक-ब-एक दिखाई न पड़ जाते ! वे प्राची का गवाक्ष ही खोलकर ताक-झाँक कर रहे हैं। इनका पूर्णोदय तो एककालिक होता नहीं। प्रेमिका से मिलने के बनाव-शृंगार भी आवश्यक ही हैं। इससे सरसी में अपना स्वरूप देखना स्वाभाविक है। सचमुच सरसी में जैसी चाँद की चाँदनी खिलती है, वैसी कहीं नहीं। वे लोल लहरियों के माथे पर मोती जो निछावर कर देते हैं ! कवि कितनी तह तक पहुँचकर अपने अनमोल भाव को व्यञ्जनात्मक भाषा में अभिव्यञ्जित करता है !

‘आर्यावर्त’ और ‘मेघनाद-वध’

‘मेघनाद-वध’ माइकेल मधुसूदन दत्त की अमर कृति मानी गयी है। बँगला भाषा में अपने ढंग का वह अकेला महाकाव्य है; छन्द, भाषा और शैली की दृष्टि से भी। इसका अनुवाद ‘मधुप’ के नाम से महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने किया है, जिससे ये उद्धरण लिये गये हैं।

‘आर्यावर्त’ मेघनाद-वध’ के आदर्श पर बना है। कवि ने ‘आर्यावर्त’ लिखकर हिन्दी संसार में मौलिक ‘मेघनाद-वध’ का आदर्श उपस्थित करना चाहा है, और वह इस प्रयत्न में सफल हुआ है भी। हम तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ दोनों का विचार करना चाहते हैं।

मूल ‘मेघनाद-वध’ की प्रति पंक्ति में १४ वर्ण और हिन्दी अनुवाद की प्रति पंक्ति में १५ वर्ण हैं; किंतु, ‘इस आर्यावर्त’ में न तो वर्ण-गणना का बंधन है और न मात्रा-गणना का। अतः अतुकान्त छन्द का अमित्राक्षर छन्द का महाकाव्य होते हुए भी यह स्वतन्त्र छन्द का एक महाकाव्य कहा जा सकता है।

‘मेघनाद’ का कवि चौथे सर्ग में जैसे वाल्मीकि की वन्दना कर वरदान माँगता है कि मुझे कवित्वशक्ति दो वैसे ही षष्ठ सर्ग में ‘आर्यावर्त’ का कवि वीणापाणि की वंदना करके कहता है कि:--

अब तो मिला लो जरा अपनी विपंची को,
मेरे इस घोर हाहाकार भरे स्वर में।

दोनों ही एक प्रकार से ग्रन्थमध्य के नमस्क्रियात्मक मंगलाचरण कहे जा सकते हैं। दोनों में ही देवियों की आराधना की प्रधानता है। जैसे मन्दोदरी पुत्र-मंगल-कामना करती देवी की पूजा में संलग्न है वैसे पतिकल्याणकांक्षिणी महारानी भी देवी की पूजा में निमग्न हैं। दोनों ही के पात्र जननी-जन्मभूमि के गौरवाकांक्षी हैं। स्थान-स्थान पर प्राकृतिक वर्णन से कोई कवि नहीं चूकता। दोनों में अनोखे स्वप्नों की कल्पना है। संयोग तो देखिए कि दोनों ही में गृह-विद्रोही जयचंद और विभीषण उपमानोपमेय भाव से विद्यमान हैं। उधर हताश राम को लक्ष्मण उत्साहित करते है, तो इधर कविरानी कवि चंद को प्रोत्साहन देती हैं। इधर संयोगिता के ललकारने पर गोरी अस्त्र रख देता है तो उधर राम के प्रत्यक्ष में प्रमीला ललकारती और दहाड़ती चली जाती है और राम

टुक-टुक देखते रह जाते हैं। ऐसी ही और भी कितनी बातें हैं कि पहला दूसरे का आदर्श बन जाता है। दोनों के वर्णन और भाव भी कहीं-कहीं टकरा गये हैं। एक उदाहरण लें:—

फेंक दिया चामर दृगम्बु भर दासी ने,
छत्र फेंक छत्रधर रोया; क्षोभ-रोष से
खींच लिया घोर खर खड्ग द्वारपाल ने,
पात्र-मित्र-सभ्य सब रोये घोर रव से।

—मेघनाद-वध

रोयी गायिका भी, छत्रधर छत्र रख के
रोया और चेरियाँ विलाप करने लगीं,
भूलकर संचालन करना चमर का,
रोये वीर प्रहरी कृपाण रख म्यान में।
इस भाँति सारी सभा आँधी में विषाद की
सूखी पत्तियों सी क्षण में ही उड़ने लगी।

—आर्यावर्त

इनमें विशेष अन्तर नहीं। अपने-अपने भावानुसार एक तलवार बाहर करता है और दूसरा म्यान में रखता है। वहाँ सभी रोते हैं और यहाँ विषाद की आँधी में उड़ते हैं। बात एक ही है, अभिव्यंजना में ही अंतर है। एक उदाहरण और लीजिए:—

सहसा अचेत होके जबलौं गिरे सती
व्यग्र सरमा ने शीघ्र पकड़ लिया उसे।

× × ×

गिरती है नीचे खगी विषम प्रहार से
वैसे गिरी सरमा की गोदी में पतिव्रता।

—मेघनाद-वध

सिर चकराया गिरीं घूम, कविरानी ने
रानी को सम्हाल लिया बढ़कर यत्न से।
गंगा गिरी मानो रविनंदिनी की गोद में
अंक में धरा के गिरी बिजली तड़प के।

—आर्यावर्त

वहाँ सती सीता सरमा की गोद में गिरती हैं और यहाँ कविरानी की गोद में रानी। वहाँ बाणविद्ध विहंगिनी-सी सीता गिरती हैं और यहाँ तड़िता-सी तड़पकर रानी गिरती हैं। किंतु,

यहाँ हमारे कवि ने अभिव्यक्ति की कुशलता-स्वरूपिणी कला में पूर्वोक्त कवि को परास्त कर दिया है। एक भाव-समता का उदाहरण लीजिए :—

ऊषा उदयाद्रि पर हँसती दिखायी दी
आशा यथा अन्धकारपूरित हृदय में।

—मेघनाद-वध

श्याम नभ ऊपर है नीचे श्याम यमुना,
बीच में यों झलकी ललाई लाल ऊषा की,
तमपूर्ण गहरी निराशा के हृदय में
झलकी सुवर्णमयी आशा-ज्योति हँसती।

—आर्यावर्त

किंतु दोनों की कविता में आकाश-पाताल का अंतर है। इसमें हमारा कवि बढ़ा-चढ़ा है।

'मेघनाद-वध' में राम यह कहते हैं कि :—

लावो यहाँ शीघ्र यह कौन नहीं जानता,
होता है अवध्य दूतवृन्द रणक्षेत्र में।

और 'आर्यावर्त' में गोरी कहता है कि :—

"भेजो यहाँ सादर"—कहा यों सुलतान ने—
"दूत है अवध्य, वह आदर का पात्र है।"

यह तो रण-शास्त्र की नीति ही है।

एक शैली की समता का उदाहरण देखिए :—

× × एक साथ शंख सौ
बामादल ने बजाये और किये चाप सौ
टंकारित, सातंका सुलंका कँपी शंका से;
नागों पै निषादी कँपे, सादी कँपे अश्वों पै,
सुरथी रथों में कँपे, भूप सिंहासन पै;
नारियाँ घरों में कँपी, पक्षी कँपे नीड़ों में।

—मेघनाद-वध

ऊँघते हैं प्रहरी कृपाण लिये कर में
ऊँघती है बैठ अवरोधन में महिषी
ऊँघता है झिलमिल प्रदीप एक कोने में
जलते हैं शलभ थके से निरानन्द से
ऊँघती है सुंदरी सलोनी नेत्ररंजिनी

गायिका, अधीरा बनी वीणा लिये गोद में,
और झंकार-ऊँघती है मूक तारों में।
—आर्यावर्त

हम तो ऐसी समता को घुणाक्षर न्याय के ही उदाहरण समझते हैं। पाठक इसे जो चाहें, समझें। अब जरा इनकी भिन्नता पर भी ध्यान दें।

'मेघनाद-वध' का लेखक पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा-सम्पन्न, परधर्मपरायण और स्वधर्मविद्रोही है, जिससे उसमें आर्य-संस्कृति की क्षीणता पायी जाती है और उसका जातीय संस्कार भी ह्रासप्राप्त-सा प्रतीत होता है। इससे उसके महाकाव्य में अनार्यता का प्रवेश हो गया है। साथ ही उसका प्रधान नायक मेघनाद भी अनार्य है। इससे 'मेघनाद-वध' को अनार्यता-प्रधान काव्य कहने को हम बाध्य हैं। इससे काव्य-संपत्ति की बात पृथक् है।

भगवान रामचन्द्र को, जिन्हें हम आर्य मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में मानते हैं, 'मेघनाद-वध' में 'राघवभिखारी' के रूप में है—कवि ने, जहाँ तक उससे बन पड़ा है, उनकी मिट्टी पलीद कर दी है। स्वर्ग के सभी छोटे-बड़े देवी-देवता, इन्द्र, उपेन्द्र, महेन्द्र, चंडी, शंकर कमर कसकर 'राघवभिखारी' की रक्षा करते हैं; पर मेघनाद और रावण के तेज-बल के सामने बेचारों की एक भी नहीं चलती। पितृलोकवासी राजा दशरथ भी लक्ष्मण की रक्षा के लिए उपाय बतलाते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह दशा है 'मेघनाद-वध' के राघवभिखारी की। यहाँ तक कि मेघनाद की स्त्री की एक साधारण दासी से रामचन्द्र थर-थर काँप जाते हैं। अपने विजातीय संस्कार के कारण माइकेल ने राम को रूई की तरह धुन डाला है। रामचन्द्र देवपूजन करके बार-बार सहायता की भीख माँगते हैं, देवता अस्त्र-शस्त्र, सेना और नाना प्रकार के असंभव उपायों से उनकी सहायता भी करते हैं; फिर भी बार-बार रावण के सामने राम को मुँहकी ही खानी पड़ती है। कवि की सारी शुभ-कामनाएँ रावण की ओर हैं—यदि पूर्व के ग्रंथ बाधक न होते, तो माइकेल रावण से राम-लक्ष्मण को वध करवाये बिना न मानते। यह एक भयानक उपद्रव है, जो आर्य-साहित्य को सह्य नहीं हो सकता।

ठीक इसके विपरीत, 'आर्यावर्त' के कवि ने अपने काव्य में पूर्णतः आर्यता का परिचय दिया है। क्योंकि, वह आर्य-सभ्यता का अभिमानी है। 'आर्यावर्त' के पात्र भी देवी-देवता की स्तुति करते हैं; पर उन्हें अपने बल का ही पूरा सहारा है। वे दीन-हीन नहीं हैं, बलवान हैं; कर्मवीर हैं; और हैं तलवार के धनी। जहाँ 'मेघनाद-वध' के राम हाथ जोड़कर देवता से सहायता की भीख माँगते हैं, वहाँ 'आर्यावर्त' की अबला कही जानेवाली नारी सबला होकर चंडी से विनय करती है:—

डरती नहीं हूँ आपदा से मुझे शक्ति दे
रौंदकर नष्ट-कर डालूँगी विपत्ति को।

अंधा और बंदी पृथ्वीराज गोरी से कहता है :—

आज तक मैंने दया की है—पर जान लो;
त्रिभुवननाथ से भी मैंने कभी भूलके
माँगी नहीं भीख करुणा की इस जन्म में;
कटकर शीश गिरे यह स्वीकार है।
शीश का झुकाना नहीं सह्य होगा आर्य को।

आर्यता का ऐसा दीप्त वर्णन पढ़कर किसका हृदय उद्दीप्त न हो उठेगा ! आर्यता का ऐसा भास्वर स्वरूप देखकर किस आर्य की आँखों में रक्ताभा भास्वर न हो उठेगी !

'आर्यावर्त' के कवि ने पूर्ण गौरव से ओत-प्रोत आर्यों का वर्णन किया है। और-और बातों में 'मेघनाद-वध' भले ही बढ़-चढ़ जाय; पर जहाँ तक संस्कृति का प्रश्न है, 'आर्यावर्त' के सामने ठहर नहीं सकता। 'आर्यावर्त' आर्यों के लिए पूर्णरूपेण आर्यकाव्य है। राम-लक्ष्मण को आदर्श से गिरा देने के कारण मधुसूदन दत्त जातीय कवि नहीं हो सकते; किन्तु जातीय आदर्श को उच्च करने के कारण मोहनलाल महतो, कवि 'वियोगी' हमारे आदरणीय जातीय कवि हो सकते हैं।

'आर्यावर्त' और भाव-साम्य

'आर्यावर्त' एक मौलिक महाकाव्य है। यदि उसमें कहीं-कहीं प्राचीन कवियों का भाव-साम्य पाया जाता है, तो उससे उसकी मौलिकता नष्ट नहीं हो सकती। अन्धानुकरण निंद्य है। पुराने भावों को नया रूप-रंग देना निंद्य नहीं, उसमें ही तो कृतित्व है और यहीं पर मौलिकता है। नूतनता ही जीवन है। कुछ उदाहरण ये हैं :—

एक रात्रि-वर्णन की पंक्तियाँ हैं: —

रात ने न देखा कभी रवि को, न रवि ने
रात को निहारा भूल के भी आँख भरके।

एक श्लोक का ऐसा ही भाव है :—

[1]नलिनी का जन्म व्यर्थ ही गया कि उसने सुधांशु के विम्ब को न देखा और चन्द्रमा का उदय भी व्यर्थ ही है, जिसने खिली हुई नलिनी को न देखा !

इसमें अंतर यही है कि वहाँ सूर्य है और यहाँ चन्द्रमा। किन्तु 'आर्यावर्त' के कवि ने आगे की जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उनके सामने श्लोक का इतना-सा भाव कभी ठहर ही नहीं सकता।

---

[1] निरर्थकं जन्मगतं नलिन्याः यया न दृष्टं तुहिनांशुविम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव न येन दृष्टा नलिनी प्रबुद्धा॥ —काव्यालंकार

• • •

नारद की वीणा के वर्णन में भारतेन्दु तुंबियों को जहाँ केवल भूगोल और खगोल की उत्प्रेक्षा इस भाँति

के भूगोल-खगोल दोउ कर अमलक कीने

कहकर रह जाते हैं, वहाँ 'आर्यावर्त' का कवि यों लिखता है :—

निकलीं खगोल से छिटक रवि रश्मियाँ
छूतीं भूगोल को, हों जैसे तार वीणा के
दोनों गोल तूंबियों के बीच में तने हुए।

इस वर्णन में भूगोल-खगोल-रूपी तुंबियों की जैसी सार्थकता है, वैसी ऊपर की पंक्तियों में नहीं है।

• • •

आयी उषा सुन्दरी सोहागवती धीरे से
सकुची कुमुदिनी कमल हँसे मोद में
एक का विषाद दूसरे की हँसी सुख की
विधि की विडम्बना का निर्मम प्रमाण है।

माघ कवि का एक श्लोक है, जिसका भाव भी ऐसा है। वह इस प्रकार है :—

[1]कुमुदिनी मुरझा रही है और कमल खिल रहा है। उल्लू उदास हो रहा है और चकवा प्रसन्न। सूर्य का उदय हो रहा है और चन्द्रमा अस्त। हाय! विधि-विडम्बना कैसी विचित्र है!

महाकवि कालिदास भी कुछ ऐसा ही कहते हैं :—

[2]एक ओर कलानिधि अस्ताचल को जा रहे हैं और दूसरी ओर अरुण किरणों को आगे किये दिवाकर उदित हो रहे हैं। इन तेजस्वी दोनों के उदयास्त से सांसारिक पुरुष अपने उत्थान-पतन की अवस्था से हताश नहीं होता। 'सबै दिन नाँहि बराबर जात।'

---

[1] कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्,
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः॥
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं,
हतविधिलसितानां ह्री विचित्रो विपाकः।

—शिशुपाल-वध

[2] यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरौषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरस्सरमेकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥

—शकुन्तला

● ● ●

आँखों में पड़के कणा भी एक बालू की
व्यग्र कर डालती है मन को, शरीर को।
किन्तु, यदि ज्वालामय बाण विधे उर में
उस मर्मान्तक व्यथा का चित्र हाय रे!
कौन आँक सकता है, भुक्तभोगी छोड़के।

श्री हर्ष ने भी ऐसा ही भाव अपने एक श्लोक में व्यक्त किया है, जो इस प्रकार है:—

[1]जब एक धान की शिखा (टुँड़) पैर में चुभ जाती है, तब न जाने कितना दर्द होता है और जब एक सुकुमारी के सुकुमार हृदय में सशरीर राजा ही पैठ गया हो, तब उसकी व्यथा का क्या कोई अनुमान भी कर सकता है? कहाँ पैर का पतला टुँड़ और कहाँ हृदय में पैठा पुरुष! दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर!

● ● ●

मानव है कोमल सिरिस फूल से भी किंतु
वज्र से भी कठिन हृदय दिया विधि ने।

भवभूति का भी ऐसा ही भाव है और वह मानव-मन में निरन्तर घर किये हुए है:—

[2]मनुष्य का हृदय फूल से भी कोमल है और वज्र से भी कठोर। महापुरुषों के चरित्रों का कैसे कोई पार पा सकता है!

'आर्यावर्त' के कवि ने सुकुमारता के वर्णन में फूल चुभने की बातें दो स्थानों पर यों लिखी हैं:—

१. कविरानी के वर्णन में:—

लाल-लाल आलता-विनिंदित चरण में
चुभ जाती थीं वनफूलों की पँखुरियाँ।

२. महारानी के वर्णन में:—

जिन अंगों में फूल पीड़ा पहुँचाते थे
और गड़ जाती थीं पगों में भी पँखुरियाँ।

इसी भाव को पद्माकर यों व्यक्त करते हैं:—

कोमल कमल के गुलाबन के दल के
सुजात गड़ि पाँयन बिछौना मखमल के।

---

[1]निविशते यदि शूक शिखापदे सृजति सा किमतीवहि न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः॥ — नैषध

[2]वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति। —उत्तर रामचरित

'आर्यावर्त' की पंक्तियाँ हैं :—

सिरिस सुमन भी समर्थ हुआ सहसा
चूर कर डालने को वज्र-तुल्य हीरा को।

तुलसीदासजी कहते हैं :—

विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा।
सिरिस सुमन किमि बेधहिं हीरा॥

'आर्यावर्त' का कवि कहता है :—

दुर्वह था भार अंगों के लिए शोभा का
आज वही रानी संयोगिता कृपाण ले
कूदने को प्रस्तुत है ज्वालामय युद्ध में।

बिहारी कवि कहते हैं :—

भूषण-भार सँभारिहैं क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न परि सकै शोभा ही के भार॥

सूर्योदय और सूर्यास्त के वर्णन में कवि लिखता है :—

एक ओर रवि और एक ओर शशि की
शोभा थी अनोखी, मानो दिन और रात को
तोलने की अद्भुत तुला हो स्वर्ण-रौप्य की।

भारतेन्दु ने नारद-वीणा की दोनों तुंबियों की ऐसी ही उत्प्रेक्षा की है :—

जग-बुधि तौलन हेत मनहु यह तुला बनायी।
भक्ति-मुक्ति की युगल पिटारी कै लटकायी॥

सुख-दुख की आँखमिचौनी का एक उदाहरण लें :—

नृत्य करती हैं दो तरंगें एक साथ ही
कवि शांत मानस में सुख और दुख की।

प्रसादजी लिखते हैं :—

मानव-जीवन-वेदी पर, परिणय है विरह-मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का।

पंतजी की पंक्तियाँ भी इसी तरह की हैं :—

मानव-जग में बँट जावे
दुख सुख से औ सुख दुख से।

× × ×

दुख सुख की निशा दिवा में

सोता जगता जग-जीवन।

एक उदाहरण और ले लें :—

चुप बैठ जाना द्रोहियों से सन्धि करके
आँगन में सोना है लगाके आग घर में।

इसी आशय का एक यह भी प्राचीन दोहा है :—

धरैं न मन में सोच जे, बैर प्रबल सों ठानि।
सोवत आग लगायके, सदन माँझ पट तानि।

'मेघनाद-वध' की ये पंक्तियाँ हैं :—

...... कौन सुखभोग जब तक युद्ध में
मारूँगा न ! आग जब लगती है घर में
सोता तब कौन है माँ ! विश्रुत त्रिलोकी में।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के ये उदाहरण तथा अन्यान्य ऐसे ही उदाहरण 'सौ सयाने एक मत' जैसी लोकोक्तियों के ही नये-नये नमूने हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कहा जा सकता।

'आर्यावर्त' की कुछ सूक्तियाँ

वर्णन-वैशिष्ट्य के साथ ही कवि ने सुंदर सूक्तियों से भी अपने काव्य को अलंकृत कर दिया है। उनमें से थोड़ी-सी सूक्तियाँ हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

१ एक का विषाद दूसरे की हँसी सुख की
विधि की विडम्बना का निर्मम प्रमाण है।
२ सुख में मरण-भय प्राणों को सुखाते, किन्तु
मूल्यवान मृत्यु बन जाती है विपत्ति में।
३ जीवन का मूल्य गिरता है तब मृत्यु का
मूल्य बढ़ जाता है, सनातन नियम है।
४ होते यदि रत्न सभी पत्थर पहाड़ के
पाती पद कैसे रत्नगर्भा का वसुन्धरा।
५ सीमाहीन आशा है असीम यह विश्व है
किन्तु यह जीवन घिरा है लघु रेखा से।
६ वह सुख प्रिय होता है हमें कितना
प्राप्त करते हैं जिसे घोर दुख सहके।
७ अन्तर की अग्नि कभी निर्वापित होती है
चाहे कोई सागर का पान करे व्यग्र हो।

८ निज को मिटाये बिना मोहहीन बनके
संभव नहीं है शान्ति पाना; सुख देना।
९ राजा है निमित्तमात्र—यह आर्यनीति है,
शासक-प्रकृत तो प्रजा है किसी राज्य का।
१० कौन है समर्थ जो अतीत को पकड़ के
बाँधे वर्तमान के क्षणिक तुच्छ पाश में।
११ जिसने न माना कभी लोहा तुच्छ मृत्यु का
जीने का वही तो अधिकारी है जगत में।
१२ शत्रु और सर्प को न छोटा कभी मानिये
अवसर पाके ये अनर्थ कर देते हैं।
१३ योगी और मूर्ख निश्चिन्त हैं भुवन में
वे ही हैं अभागे जो न योगी हैं न मूर्ख हैं।
१४ धन्य है कलंकहीन जीना एक क्षण का
युग-युग जीना सकलंक धिक्कार है।
१५ अंधा है स्वयं स्वार्थ और ज्ञानहीन है।
अतएव स्वार्थी ज्ञान-अंध कहा जाता है।
१६ वीरता की पूजा भगवान की ही पूजा है।
१७ संघबद्ध दुष्टता का नाम कूटनीति है।
१८ कायरों का रोदन-विलाप ही सहारा है।
१९ अनायास प्राप्त वस्तु मूल्यहीन होती है।
२० हीरा कहता है सदा हीरे से विचार लें।
२१ हाय है कठिन पथ इस मर्त्यलोक का।

'आर्यावर्त' के अपप्रयोग

खड़ी बोली के अव्यवहृत खंग, खाम, बेहर आदि शब्द 'आर्यावर्त' में ऐसे प्रयुक्त हुए हैं, जैसे बनारसी पेड़े में मिश्री के कण। यद्यपि कुछ खटकते हैं तथापि आस्वाद में माधुर्य की ही वृद्धि करते हैं।

'कूकना शृगालों का', 'अश्वों का रँभाना' आदि बेमुहावरा प्रयोग चिन्त्य हैं।

'आर्यावर्त' की ऐतिहासिकता

'आर्यावर्त' के कथानक की जो आधारशिला 'पृथ्वीराज रासो' है, उसके संबंध में ऐतिहासिकों की उलझन बढ़ती ही चली जाती है। 'पृथ्वीराज-विजय' नामक काव्य के आविर्भाव से और

एक उत्कीर्ण लेख से यह सिद्ध किया जा रहा है कि रासो के रचयिता चन्द पृथ्वीराज के समय में न थे और न राणा समरसी। इससे इन दोनों का पृथ्वीराज और गोरी के युद्ध में सहयोग संशयास्पद है। ऐसी और कई बातें भी हैं। किन्तु 'आर्यावर्त' का कवि इतिहास के सन्-तारीखों का गुलाम नहीं बना। वह कल्पना की गंगा में अपनी नैया अनायास खेता चला गया है।

दो शब्द और

यह 'आर्यावर्त' विहार का आदि महाकाव्य है। आज तक विहार ने खड़ी बोली में, और विशेष कर नये रंग-रूप में हिन्दी को महाकाव्य नहीं दिया था। अतः हम कवि को उसकी सफलता, कला और साधना के लिए हृदय से बधाई देते हैं। हम चाहते हैं कि 'आर्यावर्त' की आलोचना उचित रूप में अधिकाधिक हो। हमें प्रसन्नता है कि हमारे प्रान्त ने एक ऐसा अमूल्य रत्न प्राप्त किया है, जिसपर वह गर्व कर सकता है।

राँची, प्रवास-काल
११-८-१९४३

—रामदहिन मिश्र

शुद्धि-पत्र

	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
भूमिका में				
	१६	२९	- समरसी	- सम-रसी समरसी
	२७	१६	गौरवपूर्ण	गौरव पूर्ण
	३०	२९	सफलता	चपलता
पुस्तक में				
	११-७३	१५-२३	शुचिभेद	सुचिभेद
	१७	५	मुर्च्छित	मूर्च्छित
	१८	१४	शेष-पूर्ण	शेष पूर्ण
	२६	५	हुलस	हुलास
	४७	२१	महिधर की	महीधर की
	६२	९	असनि	अशनि
	९०	११	दुरुह	दुरूह
	१०३	१५	पाया संवाद वह	आया संवादवह
	११७	१९	विध्वंश	विध्वंस
	१४७	१२	लिया	लिया सबने

आर्यावर्त

अम्बे ! रणचंडिके !! नृमुंडमालधारिणी !!!
देवी प्रलयंकरी ! पुकारता हूँ आज मैं !
आओ महाकालिके ! पधारो अरिमर्दिनी !!
नाचो एक बार महारौद्रमदमत्ता हो
मेरी कल्पना के इस आँगन में तारिणी !
गूँज उठें मन, प्राण नूपुर निनाद से
जागृत हो चेतना दहाड़े क्रुद्ध सिंह-सी ।

आज मेरी प्रतिभा चली है जिस पथ पर,
हाहाकार करती प्रलय - झंझावात - सी,
उस पथ पर कुश-कंटकों का वन है ।
बाधाएँ उड़ेंगी तुच्छ सेमर की रूई-सी ।
रौद्रे ! रुद्र तेज को दिखा दूँ ज्ञान-अंध को
कवि-लेखनी में कैसी वज्र-सी चमक है !

वर्णन करूँगा किस भाँति आर्यभूमि का
भासमान भानु डूबा, रक्त - पारावार में,
किस भाँति आँधी उठी—-ईर्ष्यानल भभका,
स्वाहा हुआ नंदन-विपिन शुष्क-तृण-सा ।

× × ×

आओ, वरदायिनी ! पधारो, आर्यजननी !!
सफल बना दो यह ज्वालामयी साधना !

प्रथम सर्ग

दिनमणि डूब गया तम के समुद्र में,
आयी चुपचाप संध्या शोकातुरा विह्वला ।
गूँज उठा झिल्ली-रव नूपुर निनाद-सा,
भीरु अंधकार लगा झाँकने निकुंजों से ।
रात ने न देखा कभी रवि को, न रवि ने
रात को निहारा भूल के भी आँख भरके,
किंतु निशा रोती है अधीरा बनी रात को
रवि के वियोग में, इधर रवि दिन में
हाय तपते हैं निशा रानी के विरह में,
कैसी यह प्रीति है, वियोग यह कैसा है !

दूर जनपद से, विपिन अंतराल में
चंडिका का एक भग्न मंदिर विशाल था ;
वैभव का जैसे कंकाल हो भयावना ।
टूटा था शिखर मानो उत्थित कबंध हो ।

पाहन-गठित-दृढ़ प्रांगण के वक्ष को
फाड़कर पीपल के वृक्ष ऊग आये थे,
मानव-कृतित्व हुआ विजित प्रकृति से ।
खंभे अस्थिपंजर-से दीख पड़ते थे और
मलिन दीवारें थीं अवाक्-सी खड़ी हुई ।
झाँकती थीं ईंटें इस भाँति मानो भय से
भागने की ताक में हों अथवा हो देखतीं
सुखद अतीत को—गया है दूर कितना
संभव है मोहवश लौट आवे—हाय रे—
आशा है असीम उस सीमित भुवन में ।
वन के कबूतरों ने मंडप के कोनों को
सुख से बसाया—थे अबाबिलों के घोंसले !
और चमगादुरों का दिवस-बसेरा था !!!

राजती थी भीतर विशाल देवि-प्रतिमा
चंडिका की, कर में कृपाण लिये भैरवी !
अग्नि की अचंचल शिखा-सी रक्त जिह्वा थी
नयन तरेरे और त्योरियाँ चढ़ी हुईं,
मानो मूर्ति कूदना ही चाहती हो वेदी से !
पुंजीभूत तम-सी, कराल रूपधारिणी
अरि-मान-मर्दिनी भवानी थीं विराजती ।
मंदिर भरा था धूलि और सूखे तृण से,
जान पड़ता था एक युग से मनुष्य ने
दृष्टि कभी फेरी हो न इस ओर भूल के ।

निर्भय हो वन्यपशु सुख से थे घूमते,
एक कोने में हड्डियाँ थीं पड़ी सूखी-सी,
संभवतः शेर ने शिकार यहीं खाया था।
चारों ओर वन था गहन अति दुर्गम,
झूमते थे पादप पिशाच-से भयावने
पुरवा के प्रबल झकोरों में सदैव ही।
मंदिर की सीढ़ियों की पतली दरारों में
घास उग आयी थी—पड़े थे कभी जिनपर
भक्ति-विह्वलों के पद—और पगडंडी भी
मिट-सी गयी थी, मानो उसने छिपाया हो
उन पद-चिह्नों को कराल काल-दृष्टि से,
जिन शेष चिह्नों के भरोसे वह जीती थी!
सारा वन निर्जन, उदास, दुर्गम था।
आया एक वीर ओज-तेज का प्रतीक-सा
उन्नत शरीर मानो युवक गयंद हो,
अरि-गर्व-गंजन विशाल भुजदंड थे,
वक्ष मानो वज्र के कपाट-सा सुदृढ़ था,
अंग-प्रत्यंग में था कवच कसा हुआ,
सिर था सिरस्त्राणहीन उस योद्धा का,
गति थी थकी-सी, घोर चिंतित वदन था।
खंगहीन कोश था, शिथिल कटिबंध था,
झूलता था पीठ पर तूण रिक्त सर से,
और कोदंड भी नहीं था वाम कर में।
भस्मावृत वह्नि-सा, घटावृत दिनमणि-सा

धूमावृत धूमकेतु-जैसा वीर केसरी
वन में प्रविष्ट हुआ साथ निशा रानी के।
एक बार चारों ओर देख भूखे व्याघ्र-सा,
दीर्घ निस्वास त्यागा वीर ने अधीर हो,
आगे बढ़ा तुच्छ तृण-कंटकों को रौंदता।
काँप उठे पत्ते और कूकना शृगालों ने
बंद किया--झिल्ली-रव बंद हुआ सहसा ;
मानो थहराया धीर हृदय विपिन का।
आगे बढ़ा वीर रुककर कुछ सोचता,
पीछे देख लेता कभी ज्वालामयी दृष्टि से।
आया एक दूसरा मनुष्य हत ओज-सा,
वृद्ध किंतु घोर क्षत-विक्षत शरीर था।
उन्नत ललाट पर छायी रक्त-बूँदें थीं,
(मानो) ग्रहण विमुक्त शशि पर ही लगा हुआ
राहु के गले का रक्त ; टूटी तलवार वह
टेककर आगे बढ़ता था आह भरके।
इस भाँति दोनों देवि-मंडप में पहुँचे,
दोनों ने प्रणाम किया दंडवत् व्यग्र हो,
पाहन-गठित भूमि और लौह वर्म का,
घर्षण हुआ तो घोर अग्निकण निकली।
नग्न खंग खनका—प्रतिध्वनि के रूप में,
मानो हँसी कालिका, करालिका, कपालिनी।
आयी थर्राती हुई बैहर बसंत की
मेंहदी के फूलों की महक भीनी छा गयी !

प्रथम समागत पुरुष कवि चंद था,
भारत का गौरव, सरस्वती का लाड़ला
और पार्श्वचर महाराज पृथ्वीराज का !
दूसरा था रणमदमत्त वीर-केशरी
राणा श्री समरसी, विकल घोर पीड़ा से,
पीड़ा नहीं घावों की, अपितु पराजय की !
वेदना थी, शत्रु से प्रहार ऋण लेकर
आये थे समरसी—हताश हो समर से,
चाहते थे ऋण को चुकाना साथ सूद के,
किंतु यही दुःख था कि—हाय भाग्यनभ का
रवि अस्त हो गया था रक्त पारावार में ।
तैरकर पार हुआ योद्धा उसी सिंधु के
स्वजन जनों की लाश नाव बनी उसकी !
उस दिन दोनों शेष वीर आर्य-सेना के,
चंडिका के मंडप में एक साथ पहुँचे ।
मानो शांत-रस और शौर्य एक साथ ही
आये महामाया के चरण में हताश हो !
अंतिम समर था महान् पृथ्वीराज का
गोरी से—पवित्र आर्यभूमि के भविष्य का
अंतिम था निर्णय, जो हाय हुआ उलटा ।
जाता है अभागा देवचरणों में माँगने
दिव्य वरदान, किंतु विधि के विधान से
लौटता है लेके अभिशाप—कर्मफल है
अक्षय त्रिकाल में—नहीं है नाश उसका ।

राहु जैसे हाहाकार करके गगन में
ग्रस लेता है दिनकर को हठात् ही,
कोटि-कोटि मानव विकल भीत होते हैं,
किंतु है समर्थ कौन—रक्षा करे रवि की।
ठीक इसी भाँति—इसी भाँति हाय गोरी ने
दिल्लीपति को था ग्रसा—उस घोर युद्ध में।
सारा देश देखता रहा यों आह भरके,
जैसे गृही देखते हैं दूर से खड़े-खड़े,
जब जलता है ग्राम ग्रीषम की रात को
मिलता नहीं है एक बूँद जल भी कहीं।
नयनों के नीर से असंभव है जग में
निर्वापित करना हृदय की दावाग्नि को!
कवि चंद और श्री समरसी किसी तरह
शेष बचे कालानल-रण की लपट से।

× × ×

आयी विधुवदनी विभावरी गगन में
फूल उठे कुमुद सरोवरों में सुख से,
शीतल-सुगंध-मंद वायु बहने लगी,
रूप लगी देखने दिशाएँ मदमत्ता हो
सलिल मुकुर में उझक, झाँक-झाँक के।
बोला कवि चंद—"वीर-केसरी, समर से
कैसे तुम आये, बचे कैसे महानाश से?
रुंड-मुंड-पूरिता मही थी रक्तधारा में,
डूबते थे शत्रु और मित्र, एक साथ ही,

अपने-पराये का न भेद था तनिक भी।
हाँके उन्मत्त वीर नाचते थे ओज में
फाग खेलते थे पिचकारी ले कृपाण की।
देखते ही देखते रणस्थली मसान-सी
शून्य हो गयी थी और रवि अस्त हो गया !!!
आयी एक प्रलय-लहर इस ओर से,
एक उठी तुमुल तरंग उस ओर से,
इस रण-सागर में आर्यावर्त डूबा।
डूब गया जिसमें सोहाग मातृभूमि का,
डूब गया जिसमें भविष्य आर्य जाति का,
डूब गयी जिसमें स्वतंत्रता की प्रतिमा।
कैसे बचे वीर तुम इस महानाश से
सुनके लिखूँगा मैं वृत्तांत इस रण का
होगा यही शेष-सर्ग मेरे महाकाव्य का !"
बोले श्री समरसी सुभट-वन-केसरी—
"कवि, क्या नहीं थे तुम युद्ध में स्वयम् भी
आर्यपति पृथ्वीराज वीर की बगल में ?
तुमने नहीं क्या वीर ! भगदड़ मचायी थी
शत्रु के सिपाहियों में, प्रबल प्रहारों से ?
कौन था समर्थ जो खड़ा हो एक क्षण भी
सम्मुख तुम्हारे घोर वज्राघात वाणों के ?
कैसे रण शेष हुआ, कौन हुआ विजयी,
कैसे मैं बताऊँ—अब वाणी भी विरत है !
छाती फटती है, बल क्षीण हुआ जाता है।

एक दिन और बस, एक दिन रण में
और चाहता हूँ, खुल खेलूँ तलवार से
ऋण मैं चुका दूँ वहीं शत्रु के प्रहारों का ।"
मौन हुआ योद्धा त्याग दीर्घ स्वास दुःख से,
सन्नाटा छा गया कि झिल्ली-रव गूँजा ।
पीपल की ठूँठ पर बैठ पंख फड़का
बोल उठा उल्लू—घोर निर्जनता छा गयी !
आ गयी सभय शशि-संभवा-विभा वहाँ
अंधकार पीछे हटा मानो शैवाल हो
जटिल सरोवर का, और जिसे कर से
कोई हो हटाता स्नान करने के पहले !
बैठा नत भाव से है चंद कवि-केशरी,
बैठा घोर आहत मृगेंद्र-सा समरसी,
वृद्ध, किन्तु अन्तर में यौवन भरे हुए ।
एक-एक बूँद कर रक्त गिरा जाता है,
जैसे शेष होता है सनेह लघु दीप का ।
किंतु बीच-बीच में फड़कती भुजाएँ हैं,
बार-बार टूटी तलवार को उठाता है
और रख देता है, कराहकर पीड़ा से ।
बोला कवि चन्द घोर धीर वीर वाणी से
गूँज उठा मंडप ज्यों नभ मेघमंद्र से—
"वीर राठौर-राज ! एक बार चलकर
चाहता हूँ देखूँ मैं रणस्थली को फिर से ।
सम्भवतः आर्यपति················ ।"

बोला इतना ही, वाष्परुद्ध कंठ हो गया।
साहस बटोरकर बोला फिर चंद यों—
"एक बार खोजूँ चलकर महाराज को,
वीर श्रेष्ठ कन्ह को, महान् सेनापति को।
एक भी मिला तो फिर सेना का संगठन कर
कल अरि-दल को खदेड़ूँगा स्वदेश से।
सस्ता नहीं है, वीर आर्यरक्त इतना,
व्यर्थ नहीं होगा बलिदान आर्यजन का।"
एक ठंढी साँस ले समरसी ने यों कहा—
"जाओ कवि, जाओ वीर, खोजो महाराज को,
खोजो, डूब रक्त-पारावार में स्वतंत्रता,
देखो, उस राक्षसी रणस्थली को फिर से
चाटा जिसने है रक्त आज आर्यजन का।
जाओ कवि, और खोजो उज्ज्वल भविष्य को
इस शुचिभेद घनघोर अंधकार में।
आज धुला अक्षय सोहाग आर्यभूमि का,
हाय आर्यभूमि-पति के ही ऊष्ण रक्त से!
थाती है विजय की, वीर, यह तलवार लो,
सोने की बनी थी आर्यभूमि इसी लोहे से!
विधि की विडंबना की यह वक्र रेखा-सी—
आज दिखलाई पड़ती है—किसी काल में
लोक-वंदिता थी शशिलेखा ज्यों द्वितीया की!"
राणा हुए मौन और चंद डूब चिंता के
अतल समुद्र में लगा ज्यों कुछ खोजने।

सुन पड़ता था घोर शोर वन्य-पशुओं का
पास ही था रणक्षेत्र शव से भरा हुआ ।
लड़ते शृगाल और स्वान थे भयावने,
कोलाहल हो रहा था—स्तब्ध बनी रात थी ।
आती थी यदा-कदा हवा से लिपटी हुई
कातर पुकार किसी आहत सिपाही की ।
संभव है नोचते हों उस असमर्थ का
मांस, मांस-भक्षी पशु निर्भय हो, लोभ से !
सुन पड़ती थी कभी आहत गयंद की
गुरुगंभीर घोर गर्जना भयावनी !
अर्धमृत अश्वों का रँभाना भयप्रद था,
आती थी हवा के साथ तीव्र गंध रक्त की !
देह पर लाखों वीरगति प्राप्त वीरों की
शुभ्र चंद्रिका थी फैली, उज्ज्वल कफ़न-सी ।
राणा किसी भाँति उठकर महाकाली के
चरणों में पहुँचे, विकल आर्त्तस्वर में
बोले—"रणचंडिके, विदा की घड़ी आयी है
वरदे ! यही मैं माँगता हूँ भवतारिनी !
फिर एक बार जन्म धारण करूँ यहाँ
और मैं चुका दूँ यह ऋण आर्यभूमि का ।"

द्वितीय सर्ग

रात शेष हो गयी न आयी नींद फिर भी
निद्राहीन राजा जयचंद है शिविर में ।

बार-बार पीता है सुरा का पात्र भरकर,
व्याकुल हो घूमता है घोर मनस्ताप में ।
आज मदिरा भी उसे शांति नहीं देती है—
अंतर की अग्नि कभी निर्वापित होती है
चाहे कोई सागर का पान करे व्यग्र हो ?

आँखों में पड़ के कण भी एक बालू की
व्यग्र कर डालती है मन को, शरीर को,
किंतु यदि ज्वालामय बाण विंधे उर में
उस मर्मान्तक व्यथा का चित्र, हाय रे !
कौन आँक सकता है, भुक्तभोगी छोड़ के !!
जयचंद ऐसा एक छिद्र बना बाँध का

हाहाकार करता प्रविष्ट हुआ जिससे
कल्लोलित सिंधु जलप्लावन मचा दिया।
डूब गयी सारी शस्यश्यामला धरित्री
डूब गये ग्राम, जनपद क्षण भर में।
पीठ ठोंक शत्रु को बुलाया निज घर में,
गंगा से नहर काट द्वार तक अपने
मूढ़ ज्यों बुलाता है कराल काल नक्र को
आँगन में—कैसे हो कुशल उस नीच का।
अंतर कलह का विराट् रूप यह था
स्वाहा हुआ ग्राम एक घर के प्रदीप से!
रात शेष हो गयी, न आयी नींद फिर भी
निद्राहीन राजा जयचंद है शिविर में
घोर मनस्ताप की चिता में जलता हुआ,
घूमता है, रोता कभी और कभी हँसता।
शंकाकुल प्रहरी हैं देख दशा राजा की
एक दूसरे को कर-इंगित जताता है
सारी इतिवृत्ति भयपूर्ण-मूक भाव से।
पायी जयचंद ने विजय कूटनीति की,
किंतु सुख-शांति हुई दूर तन-मन से।
गर्व परिणाम है विजय का, किंतु गर्व से
शांति रहती है दूर—नीति का प्रमाण है।
शांति चाहती है सत्य, आत्म-बलिदान, त्याग
और गर्व चाहता है विश्व को निगलना—
कैसे फिर दोनों में समानता हो, ऐक्य हो।

जोर मारती है प्रतिहिंसा जब मन में
राजा सोचता है—"हम आज हुए विजयी।"
किंतु जब आर्य-रक्त खौलता है तन में
घोर मनस्ताप से झुलस वह जाता है।
भीषण आघात-प्रतिघातों से विकल होके
सारी रात राजा ने गँवायी मद्यपान में
फिर भी न शांति मिली, चिंता बढ़ी चौगुनी।
स्वर्णचूड़ बोले, हय हींसे, गज गरजे,
शीतल समीर आया कुछ थहराना-सा।
चुपचाप रात भागी ठंढी साँस छोड़के,
एक-एक करके नखत भागे भय से,
पराधीन भारत के प्रांगण में रोता-सा
प्रथम प्रभात आया—रात शेष हो गयी!
प्रहरी ने आकर निवेदन किया—"प्रभो,
दूत बादशाह का है आज्ञा की प्रतीक्षा में।"
"भेजो यहाँ।"—रुकके निदेश दिया राजा ने,
काँप गया शंकाग्रस्त हृदय महीप का,
गोरी ने बुलाया था तुरंत महाराज को।
दूर समरस्थली से दुर्गम विपिन में
लाख-लाख शिविर खड़े हैं अरि-सेना के,
मानो हो गयी हैं स्थिर सागर की लहरें।
संख्यातीत अश्व, रथ, गज दिखलाते हैं—
गिन सकता है कौन कितने सिपाही हैं?
आज विजयोत्सव मनाती अरि-सेना है,

नाचते हैं वीर वीर-नृत्य उन्मत्त हो,
रण-वाद्य गूँजता है—काँपती दिशाएँ हैं।
रौंदकर छाती इस भाँति आर्यभूमि की
भारत-विजेता विजयोत्सव मनाते हैं!
एक ओर गोरी का विशाल दरवार है,
घूमते हैं रक्षक कृतान्त-से भयावने
नंगी तलवारें लिये और वर्म पहने।
आँखें चौंधिआती हैं, हृदय थहराता है,
काँपती है भूमि थर-थर पद-भार से!
फारस का मृदुल गलीचा है विछा हुआ।
युत्थपति, दलपति, सेनापति वैठे हैं,
पंक्ति-वद्ध, मोड़े घुटनों को वीर भाव से
रखकर सामने कृपाण ढाल गैंड़े की!
मानों सभा सज्जित हुई हो दशग्रीव की
मेवनाद, कुंभकर्ण, आदि वीर वैठे हों!
वैठा है यवन-पति स्वर्ण-सिंहासन पर
मणिमय सुंदर चँदोवा है तना हुआ;
फैल रही चारों ओर रत्नसंभवा-विभा
वायीं ओर वैठा जयचंद नत-भाव से।
यत्न करता है मोदपूर्ण दिखलाने का;
किन्तु नरकाग्नि जो हृदय में धुँधुआती है,
उसके धुँए से मुख म्लान हुआ जाता है।
संभव है अस्त्र के भयानक प्रहारों को
कौशल से कोई भी छिपा ले; किन्तु मन की

पीड़ा छिपती है कभी, हँसके भुलाने में ?
उच्च स्वर्ण-दंड में पताका गजनी की यों
हाय, लहराती मानो छाती पर देश की
साँप लोटता हो। लाल किरणें दिनेश की,
मुर्च्छित पड़ी हों उस केतु पर शोक से।
किंवा किया सिक्त उसे भारत के भानु ने
अपने हृदय के घोर ज्वालामय रक्त से!
बोला शाह गोरी—"महाराज जयचंदजी,
आपकी दया से हम विजयी हुए यहाँ।
दूर देशवासी हैं न जानते थे पथ भी
इस महादेश का, परंतु मिला आपका
सफल सहारा—हैं कृतज्ञ हम आपके।
आज एक मेरा महावैरी शेष हो गया
शेल-सा बिंधा करता था मन-प्राण में।
छिन्न-भिन्न सेना हुई आज इस देश की
जैसे उड़ जाती घटा आँधी के थपेड़ों से।
मेरे इन्हीं वीर के पराक्रम से, शौर्य से
देखता हूँ आज शत्रुहीना-मही हो गयी।
सारा यह देश मेरी जूतियों के नीचे है
चाहूँ इसे धूलि में मिला दूँ या क्षमा करूँ!
कौन है समर्थ इस कायरों के देश में
रोके जो हमारी गति एक क्षण के लिए!
फिर भी सराहता हूँ वीरता मैं वैरी की
हारा, किंतु जीत से भी गौरवपूर्ण हार में।"

मौन हुआ गोरी देख चारों ओर गर्व से
सुनकर मत्त हुए जो-जो वहाँ बैठे थे,
फूल उठी छाती कड़ी तड़की कवच की,
खींच लिया खंग कुछ वीरों ने तड़प के
होके रणोन्मत्त से, दहाड़ उठे सिंह ज्यों
गूँजा वन, काँप गयी धरणी अधीरा हो !
नतसिर जयचंद डूब मरा लज्जा में
किंतु हँसने का कुप्रयत्न करने लगा।
उसकी हँसी भी ऐसी देख सहृदय की
छाती फट जाती घोर पीड़ा के प्रहार से !
बोला फिर गोरी—"महाराज, हम मित्र हैं
आज एक साथ विजयोत्सव मनावेंगे।
रण शेष हो गया परंतु इन वीरों की
रण-लालसा है अभी शेष-पूर्ण रूप में।
ऐसा कौन वीर अब शेष है जो रण में
एक बार जूझे इन सिंहों से दहाड़ के ?"
"कोई नहीं"—बोला जयचंद श्रांत-स्वर में
कोई नहीं ऐसा जो बजावे लोहा आप से।
आज वीर-हीना हुई भारत-वसुंधरा
वीर-प्रसू, वीर-भूमि आज पराधीना है।
ठीक है कि जूतियों के नीचे बादशाह के
सारा देश मूर्च्छित पड़ा है हत-तेज हो
आपकी दयाश्रिता है आर्यभूमि फिर भी···।"
चुप जयचंद हुआ सहसा सहमकर

चौंककर पूछा महामानी वीर गोरी ने—
"फिर भी क्या ? बोले महाराज मैं सुनूँ जरा।"
"फिर भी यही कि"—जयचंद बोला धीरे से—
"आप दया-मूर्ति हैं, भरोसा इतना ही है।"
क्षणमात्र के लिए विषाद-तम छा गया
चुप रहा गोरी एक बार दाँत पीस के।
घिर आयी क्षोभ की भयावनी घटा वहाँ
किंतु बिना बरसे घुमड़ती चली गयी।
कुछ क्षण सोच के सरोष तीव्र स्वर में
बोला बादशाह—"यहाँ लाओ सम्राट् को
साँकड़ों से बाँधकर—वैरी बलवान है।"
खौल उठा रक्त जयचंद का तथापि वह
मूर्तिवत् बैठा रहा घोर अपमान के
सहके प्रहार भी ज्यों प्राणहीन देह हो!
झनझन शब्द हुआ दूर पर आता हो
जैसे मत्त नागपति, स्तब्ध सभा हो गयी,
छाया आतंक रणबाँकुरों के मन में।
गोरी भी सतर्क होके बैठा, जयचंद ने
सोचा यदि भूमि फट जाती किसी भाँति तो
उसमें समा के त्राण पाता चक्षु-लज्जा से।
दीख पड़ा एक दल सैनिकों का व्यग्र-सा
आ रहा था नंगी तलवारें लिये कर में
घेरे सम्राट् को सतर्कता के भाव से।
चमक रहे थे असि, वर्म, सिरस्त्राण आदि

रक्त में लपेटे-से प्रभात की किरण में,
दूर तक नभ में विकीर्ण छटा होती थी।
यह दल आया दरबार में तत्क्षण ही
बैठे जितने थे वे ससंभ्रम खड़े हुए।
गोरी ने कठोरता से कब्जा तलवार का
पकड़ा—अभागा जयचंद व्यग्र हो उठा।
लौह-शृंखला में बँधा जैसे करिराज हो
महाराज दिल्लीपति आये दरबार में।
मूँछें थीं चढ़ी हुई, कठोर मुखमुद्रा थी,
मानो लौह-निर्मित प्रचंड भुजदंड थे।
साँड़ जैसे-कंधे, था शिला-सा वक्ष, क्षीण कटि
जैसे मृगराज की हो—उन्नत शरीर था।
भ्रूकुटि कुटिल, नेत्र श्येन-से सतेज थे
गति गम्भीर थी परंतु पद-पद से
होता था ध्वनित विकराल क्रोध मन का
भारत का पुँजीभूत गौरव-सा केसरी
दीख पड़ता था खड़ा मूर्तिमान काल ज्यों!
मुश्कें कसी थीं, बेड़ियाँ थीं पड़ी पैरों में
सिर पर नंगी तलवारों की चमक थी!
घेरे थे सिपाही पर दूर-दूर सब थे।
जिस ओर ज्वालामयी दृष्टि पड़ जाती थी
कूदकर पीछे अस्त्रधारी हट जाते थे,
कौन ऐसा वीर है खड़ा जो रहे सामने
छाती तान काल मूर्ति भीषण दुनालो के!

साहस हुआ न जयचंद को कि एक बार
आँखें भर देखे महाराज पृथ्वीराज को ।
भारत-विजेता गोरी हततेज हो गया
जैसे हो प्रदीप चपला की चकाचौंध में
तेजहीन । ढीले कटिबंध हुए वीरों के,
पड़कर सामने हठात् भूखे व्याघ्र के
जैसी गति होती है शिकारी की विपिन में !
बोले सम्राट् देख चारों ओर रोष से
"गोरी, क्या विचार है—बुलाया क्यों मुझे यहाँ ?
यह जो तुम्हारे पास स्वर्ण-सिंहासन पर
देश-द्रोही कायर है बैठा महा गर्व से
कल था कहाँ यह उस अंतिम समर में ?
उड़ते थे सीस बाँह कटकर बाणों से
नाचती थी चंडी, रक्त-सिंधु लहराता था ।
हाय यही दुःख है कि कल यदि पाता इसे
आज पछतावा रहता न पराजय का
विश्व देख लेता परिणाम देश-द्रोह का ।"
चुप सम्राट् हुए जैसे वज्र एक बार
वेग से कड़क के कँपाता है भुवन को !
बोला तब गोरी—"महाराज जयचंद पर
व्यर्थ यह लांछना है—सोचें आप मन में
डूबता वही है जिसे तैरना न आता हो
किंतु मूढ़ दोष देते हैं तीक्ष्ण धारा को ।"
"गोरी, सावधान हो"—दहाड़कर सिंह-सा

बोले सम्राट्—"रे कृतघ्न आज तू यों
रौंदता न मेरी मातृभूमि को त्रिकाल में
होता जयचंद यदि माता का सपूत तो ।
भूलता है—छः छः बार बंदी कर फिर भी
दे-दे क्षमादान तुझे भेजा था स्वदेश को !
विजय-पराजय की प्रसन्नता न शोक है
जन्म से ही आर्य खेलते हैं तलवार से,
किंतु देख इस देश-द्रोही को समक्ष ही
छाती जलती है—इसे दूर करो दृष्टि से ।
गूँज उठी सारी सभा असनिनिनाद से
काँप उठा गोरी हिला स्वर्ण-सिंहासन तक
वीर जितने थे वे धकेल एक दूसरे को
पीछे हटे—जैसे गजराज जब जल में
करता प्रवेश है तो जल के हिलोरों से
पीछे हटता है शैवाल—क्षण भर में ।
भागने को उद्यत विलोक जयचंद को
डाँटकर गोरी ने बिठाया उसे रोष से—
"छिः छिः महाराज, इसी वीरता के बल पर
आप बाँधते हैं तलवार—धिक्कार है !
क्या कर सकेगा वह बंदी भला आपका
हिल सकता जो नहीं अपनी जगह से !
बोला कुछ रुक के सरोष, रुक्ष वाणी में—
"दिल्लीपति, ऐसी ही व्यवस्था किये देता हूँ
जिससे भविष्य में न आप कभी भूल के

देखें महाराज वीर-श्रेष्ठ जयचंद को ।
लाओ दो शलाखें लाल करके अभी यहाँ
आँखें लो निकाल महाराज दिल्लीश्वर की
देखने की चिंता से छुड़ा दो सम्राट् को ।"
सुनकर गोरी का निदेश जयचंद ने
चाहा कुछ करना निवेदन परंतु हा,
भय ने दबाया गला कंठ रुद्ध हो गया ।
होता है न साहस पतित के हृदय में
सक्रिय विरोध करने का—अन्याय का !
बोले सम्राट्—"धिक्कार है यवनपति,
वीरोचित धर्म नहीं सीकड़ों से बाँधके
अत्याचार करना—असंख्य धिक्कार है !
कायरों-सा कर्म है तुम्हारा—सारी वसुधा
नित्य धिक्कारेगी तुम्हारी इस नीति को ।
साहस हो, खोलो सीकड़ों को तलवार दो
सामने खड़े हो फिर देखो क्षण भर में
बाजी लौट आती है महान् आर्य-देश की ।
मान जावें पंच हम पाव भर लोहे को
दे दो शेष निर्णय का भार तलवार को ।"
एक बार पीसकर दाँत महायोद्धा ने
मारा झटका तो छिन्न-भिन्न होके श्रृंखला
छिटक गयी यों मानो ओले पड़े नभ से ।
गरजा सरोष महाबाहु-बल-विक्रमी
तोड़ डाला बेड़ियों को खींच क्षण भर में

कौंध गयी बिजली सभा में, भयत्रस्त हो
योद्धा जितने थे अस्त्र-शस्त्र निज फेंक के
भागे हल्के हो, एक दूसरे को रौंदते ।
फैल गया हाहाकार सेना के शिविर में
कूदा सिंह मानो शांत बैठे मृगयुत्थ में ।
भाग चले गोरी आदि और रणबाँकुरों ने
घेर लिया अस्त्र-शस्त्र लेके सभा-भूमि को ।
गोरी का निदेश हुआ—"जीता ही पकड़ लो,"
किंतु कौन जाता मरने को वहाँ स्वेच्छा से
था जहाँ कृतांत-सा कराल वीर केशरी
वन्धन-विमुक्त हो कृपाण लिये कर में ।
दिल्लीपति बोले—"शीघ्र भेजो जयचंद को
आज मैं मिटा दूँगा कलंक आर्यभूमि का ।"
स्तंभित सिपाही हुए रौद्रमूर्ति देख के
काँप उठा पत्ता-सा हृदय एक-एक का ।
चित्रवत् सेना घेर चारों ओर थी खड़ी
घूमता था दिल्लीपति बीच में मृगेन्द्र-सा ।
जिस ओर आगे बढ़ता था रौद्र तेज से
विद्यु कौंध जाती, भगदड़ मच जाती थी ।
लाये गये फंदे, कुछ साहसी सुभट मिल
फाँसने का यत्न लगे करने नरेन्द्र को
घेरकर शिक्षित गयंदों से, परंतु गज
खाके बार-बार गजबाँक के प्रहार भी
पीछे हटते थे—चिग्घाड़कर भय से !

चमक रही थी तलवार आर्यपुत्र की
आँखें झुलसाती हुई कौंधा के समान ही।
मानो लिये ज्वालामय वज्र निज कर में
वज्री वीर वासव घिरा हो मेघ-दल से!
सुंड कटे कितने गजों के और कितनों के
मस्तक विदीर्ण हुए प्रबल प्रहारों से।
चारों ओर रक्त का आवर्त बना वीर के
जैसे रवि राजता हो मध्य परिवेश के!
आ गई दुपहरी दिनेश मध्य नभ में
स्वर्ण रथ रोक लगे देखने स्ववंश के
अंतिम प्रदीप का प्रकाश रण-झंझा में।
वायु गतिहीन हुई—मानो साँस रोक के
देखता निसर्ग हो फलाफल समर का।
एक ओर पूरी सैन्य-शक्ति गजनीश की,
एक ओर भारत का शेष आर्य वीर था।
किंतु हततेज थे असंख्य तारा-तारापति
भासमान केवल था भास्कर भुवन में।
दिल्लीपति एक था तथापि वह विद्युत-सा
यत्र-तत्र-सर्वत्र कौंधता था वेग से।
घेरे थे सिपाही, गजारोही हो चकित-भीत,
किस ओर वीर है समझना कठिन था।
कितने गयंद भागे रौंदते सिपाहियों को
हाहाकार छा गया विकल गोरी हो उठा!
एक बार हल्ला बोल फिर अरि टूट पड़े

घेरा किया छोटा फिर फंदे लगे फेंकने ।
देखते ही देखते विवश वीर हो गया
मानो आंजनेय बँधे घोर ब्रह्मफाँस में ।
अंग-प्रत्यंग कसा वीर आर्यपुत्र का
छा गयी हुलस की लहर अरिदल में ।
यद्यपि विवश थे नरेन्द्र पर साहस था
किस रणबाँकुरे में, जाता जो निकट भी ।
आया तब गोरी तलवार लिये सहमा
आया जयचंद महाव्यग्र-सा, सभीत-सा
धूलि में पड़ा था फँसा रस्सियों के फंदे में
अरिमान-मर्दन सपूत आर्यभूमि का !
बोला तीव्र स्वर में कटाक्ष करता हुआ
गोरी—"अहा, दिल्लीपति धूलि में हैं लोटते
आप नर-नाह हैं, धनी हैं तलवार के
उठिये, हमारी यह धृष्टता क्षमा करें ।
उत्तर दिया यों दाँत पीस के नृपेन्द्र ने
"इच्छा कर पूरी—मत विद्ध कर मर्म को
इन वाक्य-बाणों से, अटल विधि-रेखा है ।"
बोला फिर गोरी—"महाराज, अब आपकी
इच्छा करता हूँ पूर्ण शीघ्र—अरे दौड़ के
लाओ दो शलाखें लाल करके नरेन्द्र की
आँखें लो निकाल—इन्हें देखने से मुक्ति दो ।"
पृथ्वीराज बोले—"हाय भारत वसुंधरे ;
आर्यभूमि, आर्यावर्त, आर्यप्रतिपालिता !

एक बार देख लूँ तुम्हारी सौम्य मूर्ति मैं
आँखें भर, संभव नहीं है इस जन्म में
देखूँगा तुम्हारा शस्यश्यामला स्वरूप मैं,
फैले दूर-दूर तक खेत मनभावने,
स्वर्णमय शस्य पर संध्या के समीर का
खेलना, उठाना हाय लहरें समुद्र-सी
मानो लहराता स्वर्ण अंचल तुम्हारा हो।
ग्रीकों के विजेता की पताका किसी काल में
हाय लहराई इसी अम्बर के नीचे थी।
एक बार देख लूँ मैं भारत के नभ को!
बार-बार गूँजा था हमारी मातृभूमि के
जय-जयकार नाद से वही तो यह नभ है
कल गूँजेगा असंख्य पराधीनों के
रोदन-विलाप से, विफल हाहाकार से।
साक्षी हैं दिनेश, आर्य-जाति की विजय के,
साक्षी हैं दिनेश, आर्य-जाति के पराक्रम के,
आज बनो साक्षी देव, घोर पराजय के
आज बनो साक्षी आर्यभूमि के विनाश के।
भारत के भानु का उदय आज देखा था
अच्छा हुआ, देखूँगा न अस्त दिनमणि का।"
आ गयीं शलाखें लाल होकर तुरंत ही—
"आँखों में घुसेड़ दो।"—पुकार कहा गोरी ने
किंतु चढ़ीं त्योरियाँ विलोक सम्राट् की
आगे बढ़ने से जल्लाद भी सहम गये।

घेरा किया छोटा फिर फंदे लगे फेंकने।
देखते ही देखते विवश वीर हो गया
मानो आंजनेय बँधे घोर ब्रह्मफाँस में।
अंग-प्रत्यंग कसा वीर आर्यपुत्र का
छा गयी हुलस की लहर अरिदल में।
यद्यपि विवश थे नरेन्द्र पर साहस था
किस रणबाँकुरे में, जाता जो निकट भी।
आया तब गोरी तलवार लिये सहमा
आया जयचंद महाव्यग्र-सा, सभीत-सा
धूलि में पड़ा था फँसा रस्सियों के फंदे में
अरिमान-मर्दन सपूत आर्यभूमि का!
बोला तीव्र स्वर में कटाक्ष करता हुआ
गोरी—"अहा, दिल्लीपति धूलि में हैं लोटते
आप नर-नाह हैं, धनी हैं तलवार के
उठिये, हमारी यह धृष्टता क्षमा करें।
उत्तर दिया यों दाँत पीस के नृपेन्द्र ने
"इच्छा कर पूरी—मत विद्ध कर मर्म को
इन वाक्य-बाणों से, अटल विधि-रेखा है।"
बोला फिर गोरी—"महाराज, अब आपकी
इच्छा करता हूँ पूर्ण शीघ्र—अरे दौड़ के
लाओ दो शलाखें लाल करके नरेन्द्र की
आँखें लो निकाल—इन्हें देखने से मुक्ति दो।"
पृथ्वीराज बोले—"हाय भारत वसुंधरे;
आर्यभूमि, आर्यावर्त, आर्यप्रतिपालिता!

एक बार देख लूँ तुम्हारी सौम्य मूर्ति मैं
आँखें भर, संभव नहीं है इस जन्म में
देखूँगा तुम्हारा शस्यश्यामला स्वरूप मैं,
फैले दूर-दूर तक खेत मनभावने,
स्वर्णमय शस्य पर संध्या के समीर का
खेलना, उठाना हाय लहरें समुद्र-सी
मानो लहराता स्वर्ण अंचल तुम्हारा हो ।
ग्रीकों के विजेता की पताका किसी काल में
हाय लहराई इसी अम्बर के नीचे थी ।
एक बार देख लूँ मैं भारत के नभ को !
वार-वार गूँजा था हमारी मातृभूमि के
जय-जयकार नाद से वही तो यह नभ है
कल गूँजेगा असंख्य पराधीनों के
रोदन-विलाप से, विफल हाहाकार से ।
साक्षी हैं दिनेश, आर्य-जाति की विजय के,
साक्षी हैं दिनेश, आर्य-जाति के पराक्रम के,
आज वनो साक्षी देव, घोर पराजय के
आज बनो साक्षी आर्यभूमि के विनाश के ।
भारत के भानु का उदय आज देखा था
अच्छा हुआ, देखूँगा न अस्त दिनमणि का ।"
आ गयीं शलाखें लाल होकर तुरंत ही—
"आँखों में घुसेड़ दो ।"—पुकार कहा गोरी ने
किंतु चढ़ीं त्योरियाँ विलोक सम्राट् की
आगे बढ़ने से जल्लाद भी सहम गये ।

गोरी फिर गरजा—"अपाहिजो, क्या भय है !
आँखें लो निकाल, जो विलम्ब किया अब तो
खाल खिंचवा लूँगा इसी दम खड़े-खड़े !"
दौड़े जल्लाद चढ़ छाती पर वीर की
आँखों में घुसेड़ दीं शलाखें लाल जलतीं
कम्पित करों से, बंद आँखें कर अपनी ।
छन-छन शब्द हुआ और धुआँ निकला
फिर रक्तधारा का फुहारा चलने लगा !
जयचंद आँखें मूँद दीर्घश्वास छोड़ के
पीछे हटा किंतु वह कल्पना की आँखों को
कैसे बंद करता प्रयत्न लाख करके ।
आया चित्र पहले स्वतंत्र आर्य-जाति का
आया फिर, दूसरा घृणित चित्र आज का,
एक चित्र में था भरा रंग स्वाभिमान का
दूसरे पै कालिख पुती थी अपमान की
रखकर दोनों को समक्ष आह भरकर
राजा दोनों को लगा देखने विकल हो ।

* * *

आह भी न निकली नरेन्द्र के हृदय से
फूट गयीं आँखें और साथ उन्हीं आँखों के
क्षणमात्र में ही भाग्य फूटे आर्यभूमि के ।
बोले महाराज पृथ्वीराज क्रोध भरके
"धन्यवाद गोरी—यह अच्छा किया तुमने,
देख मैं सकूँगा नहीं अब इस जन्म में
तेरे द्वारा दलित - पवित्र - मातृभूमि को ।"

तृतीय सर्ग

फैल गयी लाली रम्य पूरब छितिज पर
जागे खग नीड़ों में सजग जग हो गया ।
गंधवह् आया मंद्-मंद् इठलाता-सा,
मधु-गंध लोभी मधुकर पद्म-कोश से
जागकर वन-कलियों की चले खोज में ।
झड़के पराग लघु पंखों से द्विरेफ के
शांत सरसी के स्वच्छ जल पर छा गया ।
अंधकार-गज भागा गहन विपिन में
दिनपति प्रकटा सरोष मृगराज-सा,
केसर-सी किरणें विदीर्ण हुईं नभ में ।
भाग के मृगांक छिपा अस्ताचल ओट में
भय था कि मृगचिह्न देख कहीं केसरी
टूटे मत,—भाग गयी रजनी किराती-सी,
आँचल में भर के नखत-गुंजा भय से ।

× × ×

गोरी फिर गरजा—"अपाहिजो, क्या भय है !
आँखें लो निकाल, जो विलम्ब किया अब तो
खाल खिंचवा लूँगा इसी दम खड़े-खड़े !"
दौड़े जल्लाद चढ़ छाती पर वीर की
आँखों में घुसेड़ दीं शलाखें लाल जलतीं
कम्पित करों से, बंद आँखें कर अपनी ।
छन-छन शब्द हुआ और धुआँ निकला
फिर रक्तधारा का फुहारा चलने लगा !
जयचंद आँखें मूँद दीर्घश्वास छोड़ के
पीछे हटा किंतु वह कल्पना की आँखों को
कैसे बंद करता प्रयत्न लाख करके ।
आया चित्र पहले स्वतंत्र आर्य-जाति का
आया फिर, दूसरा घृणित चित्र आज का,
एक चित्र में था भरा रंग स्वाभिमान का
दूसरे पै कालिख पुती थी अपमान को
रखकर दोनों को समक्ष आह भरकर
राजा दोनों को लगा देखने विकल हो ।

* * *

आह भी न निकली नरेन्द्र के हृदय से
फूट गयीं आँखें और साथ उन्हीं आँखों के
क्षणमात्र में ही भाग्य फूटे आर्यभूमि के ।
बोले महाराज पृथ्वीराज क्रोध भरके
"धन्यवाद गोरी—यह अच्छा किया तुमने,
देख मैं सकूँगा नहीं अब इस जन्म में
तेरे द्वारा दलित - पवित्र - मातृभूमि को ।"

तृतीय सर्ग

फैल गयी लाली रम्य पूरब क्षितिज पर
जागे खग नीड़ों में सजग जग हो गया।
गंधवह आया मंद-मंद इठलाता-सा,
मधु-गंध लोभी मधुकर पद्म-कोश से
जागकर वन-कलियों की चले खोज में।
झड़के पराग लघु पंखों से द्विरेफ के
शांत सरसी के स्वच्छ जल पर छा गया।
अंधकार-गज भागा गहन विपिन में
दिनपति प्रकटा सरोष मृगराज-सा,
केसर-सी किरणें विदीर्ण हुई नभ में।
भाग के मृगांक छिपा अस्ताचल ओट में
भय था कि मृगचिह्न देख कहीं केसरी
टूटे मत,—भाग गयी रजनी किराती-सी,
आँचल में भर के नखत-गुंजा भय से।

× × ×

दूर तक फैली है समर-भूमि हाय रे,
लोथ पर लोथ गिरी वीरों की दिखाती है।
लक्ष-लक्ष योद्धा वहाँ काल के प्रहारों से
प्राणहीन होकर पड़े हैं यम-फाँस में।
मानो चूर्ण होकर महीधर ही बिखरा
वासव के सर्वनाशी वज्र के प्रहार से।
चमक रहे हैं कहीं वर्म, वाण, असियाँ
भिंदीपाल, परशु, निषंग, धनु, मुद्गर।
टूटे हुए रथ और हौदों का समूह है,
झंझा गति अश्व कहीं, काल रूप-गज हैं
प्राण-हीन, एक पर एक हैं लदे हुए
जैसे घोर आँधी में असंख्य वृक्ष टूटे हों।
कोई-कोई गज उठता है फिर गिरता
और दम तोड़ता है, भूमि काँप जाती है।
देखा, कवि चंद ने समर-भूमि घूम के
छत्र दिखलाई पड़ा मानो मेघ-खंड हो
कट के गिरा हुआ, यों वज्र के प्रहार से!
एक दिन इसकी सुखद स्निग्ध छाया में
सारा देश सोता था सुरक्षित ज्यों माता के
आंचल की छाया में अबोध शिशु सोता हो।
धूलि में पड़ा था राजदंड खंड-खंड हो
चँवर पड़ा था एक ओर हाय, जिसके
संचालन-मात्र से दुरित दूर होते थे,
ईति-भीतियाँ थीं दूर भागती विकल हो।

एक ओर आर्यों का ध्वज था पड़ा हुआ,
ध्वज-धर छाती से लगा के ध्वजदंड को
कालदंड खाकर पड़ा था हतप्राण हो !
एक दिन यह केतु विजय-प्रतीक था,
आज यह चिह्न बना घोर पराजय का ।
जानता था विश्व कोटि-कोटि खंग इसकी
रक्षा करते हैं, किंतु आज विधि-गति से
एक चीथड़ा है, एक तुच्छ वस्त्र-खंड है
धूलि में पड़ा है, जिसे रौंदा अरि-दल ने ।
झुक के उठा लिया पताका को कवींद्र ने
आँखों से लगाया और बाँध लिया सिर में
बोला कवि—"ध्वजराज, खोके निज गरिमा
धूलि में पड़े हो ! धिक्-धिक् आर्य जाति को
नील नभोदेश में सदा ही लहराते थे,
रवि-शशि आरती उतारते थे गर्व से,
देता पादार्घ्य रत्नाकर समोद था,
और मेघ छत्रसम राजते थे नभ में,
दामिनी बलैया लेती थी नाच-नाच के ।
त्रास अरियों के थे, हुलास आर्यजन के
आज पदाक्रांत हुए, इस कालरण में,
भारत का डूबा अलंकार अंत-सिंधु में
कवि चंद रोया व्यग्र होके दीन भाव से
कमलासनस्थिता सुकमलालयवासिनी
रोई आर्यलक्ष्मी और भारत-वसुंधरा

रोई सविषाद, रवि रोया छिप मेघ में।
कवि चंद आगे बढ़ा खोजता नरेंद्र को
आहतों के हाहाकार बीच चला धीर धी!
सम्मुख समर में जो गिरि-सा अडिग था
खंग और लेखनी का जो था धनी देश में
हाय, चला जैसे कोई पथिक लुटा हुआ
जाता हो विकल, खिन्न भूले हुए पथ पर!
लक्ष-लक्ष बिसिख बिंधे थे रोम-रोम में,
वज्र-दंत टूटे थे, कटा था सुंड जड़ से,
रण-विकरालता का भीषण प्रतीक-सा,
आगे मिला दिग्गज पड़ा हुआ ज्यों गिरि हो।
कुछ प्राण शेष थे, था बार-बार उठता
और गिरता था चिग्घाड़कर रोष से।
चारों ओर शत्रु के सिपाहियों का ढेर था,
कौन जाने सैनिक मरे थे वहाँ कितने।
ज्ञात हुआ कवि को कि—घेर महिपाल को
शत्रुओं ने कैसी मार-काट मचा डाली थी,
क्योंकि गजराज पूर्वपरिचित था कवि का,
राजा इसी पर थे सवार इस रण में।
दीख पड़ा भीषण कोदंड युग खंड हो
भूमि पर इस भाँति हाय, था पड़ा हुआ,
टूट के गिरा हो महाचाप देवराज का
देवासुर रण में—विकल कवि हो उठा,
छोह से, उठाया उस धनु को कवींद्र ने

चूमकर छाती से लगाया महा क्षोभ से।
एक दिन जिसके टंकार की प्रतिध्वनि से
भागती थीं नभ से घटाएँ भय-विह्वला,
काँपती थी वसुधा, था सागर गरजता।
कौन था समर्थ ऐसा जग में कि एक बार
प्रत्यंचा चढ़ाता उस भीम वज्र-चाप की।
किंतु जिस भाँति है मृणाल छिन्न होता
पड़ के गयंद के विशाल महासुंड में,
छिन्न हुआ चाप महाराज पृथ्वीराज का
कौन है समर्थ सहे दंडाघात काल का।
सारी परिस्थितियाँ समक्ष हुईं चंद के,
होकर हताश वह आह भरने लगा
क्या-क्या अभी देखना था शेष उस वीर को।
देखा जिसने था कभी भारत के भाग्य का
रवि राजता था मध्य अम्बर में ओज से।
थर-थर काँपता हिया था देश-देश का
सुन के कठोर टंकार आर्य-धन्वा का।
फूटा जब भाग्य किसी देश का तो उसने
झाँका इस ओर और शेष किया निज को।
लोहा मानता था विश्व भारत के लोहे का,
आगे चलता था महाकाल जिस सेना के,
नाचती थी चंडी जिस धौंसे की धुकार पै,
जिन आर्यवीरों की समर-सज्जा देख के
चारों ओर घोर हाहाकार मच जाता था,

आज वही सेना हुई शेष तुच्छ ओलों-सी ।
कवि चंद चिंता-मग्न आगे बढ़ा क्षोभ से,
दीख पड़ा एक वीर गज-सा पड़ा हुआ
दाबे बैरियों को, करवाल लिये कर में ।
छिन्न-भिन्न वर्म था, सिरस्त्राण चूर्ण था
रक्त बहता था मानो निर्झर हो गेरू का ।
चारों ओर उसके पड़े थे अस्त्र कितने
कितनी तलवारें टूक-टूक थीं पड़ी हुई
वैरियों के रथ-गज-अश्व थे पड़े वहाँ
जान पड़ता था मानो घेरकर व्यूह में
वीर का किया था वध शत्रुओं ने यत्न से ।
चंद ने निहारा ध्यान देकर कि कौन यह
योद्धा अभिमन्यु-सा पड़ा है काल-रण में ।
त्योरियाँ चढ़ी हैं ऐसी देख जिन्हें भय से
आते हैं न निकट शृगाल-गृद्ध सहसा ।
देखते ही वीर पहचाना गया चंद से
"कन्हदेव"—भीम-सा पराक्रमी समर में
आर्यों का भरोसा और धैर्य आर्यभूमि का !
मारा गया कन्ह चिरविजयी महाबली,
जिसने अनेक बार एकाकी समर में
कूदकर हूणों को खदेड़ा हुहुंकार से ।
भारत के द्वार का था प्रहरी कृतांत-सा
आज वह प्राणहीन होके रक्त-कीच में
शांत हो पड़ा है—यह कैसी दैव-लीला है ।

टूट गया साहस कवींद्र के हृदय का
देश समुद्धार की शुभाशा शेष हो गयी,
हाय कर बैठ गया वीर सिर थाम के।

× × ×

पच्छिम क्षितिज पर दिन की चिता जली
अंधकार छा गया चितानल के धूम से।
लौटा कवि चंद देवि-मंडप में श्रांत-सा
जैसे पार्थ लौटा था महान् यदुवंश का
सत्यानाश देखकर अपने नयन से।
लौटा कवि चंद चुपचाप सर्वहारा-सा
सिर से लपेटे सना रक्त और धूल में
आर्य-ध्वज, गौरव-प्रतीक आर्य जाति का।
आँखों में विफल क्रोधजन्य भरी लाली थी,
मानो रणभूमि के समस्त आर्यरक्त को
भर लाया हो नयनों में, पूर्ण यत्न से
अर्चन करने को अम्बिका के पद-पद्म का।
अंतर में घोर हाहाकार था भरा हुआ,
चिंताशील कवि था निमग्न महा चिंता में।
एक-एक पग रखता था मदमत्त-सा,
ढीले कटिबंध में थी झूलती अनाथा-सी,
राणा श्री समरसी-प्रदत्त तलवार थी।
सारी रणभूमि का सजीव चित्र मन में,
धारण कर विकल, विवश हतओज-सा
कवि ने प्रवेश किया चुपचाप वन में।

बिखर गयी थीं वन-फूलों की पँखुरियाँ
वन-पथ पर, मानो रवि की सुकोमला—
प्रेयसी-विभा के लाल-लाल कोकनद-से
कोमल-पदों में नहीं काँटें चुभें वन के।
पग पड़ते थे अभ्यासवश ठीक ही
किंतु कवि लीन था विचारों के समुद्र में।
झाँक-झाँक झाड़ियों से स्यार और लोमड़ी
छिप जाते थे देख मानव-स्वरूप को।
देखते थे होकर चकित भीत पच्छी भी
घोंसलों से—बंदकर अपना चहकना।
इस भाँति कवि चंद आहत मृगेंद्र-सा
चंडिका के मंडप में चित्रवत् पहुँचा।
देखा श्री समरसी करालिका के पद में
लिपटे पड़े हैं और दिन शेष होने से
प्राण के पखेरू गये अपने बसेरा को।
विक्षत शरीर सौंप अम्बा के चरण को
धीरधी समरसी अमरपुर चले गये।
एक आघात लगा कवि के हृदय को
किंतु सहा उसने कठोरता से वज्र को।
क्षणभर स्तब्ध रहा चंद हत्प्राण-सा
फिर अट्टहास कर बैठ गया, हाय रे,
मानव है कोमल सिरिस फूल से भी किंतु
वज्र से भी कठिन हृदय दिया विधि ने।
जिन नयनों से करुणा की सुरधुनि दिव्य

फूट पड़ती है, उन्हीं आँखों से प्रलय की
ज्वाला सर्वग्रासिनी विभासिनी भड़कती !
बोला कवि चंद—“हे नृमुंडमाल-धारिणी,
जन-प्रतिपालिनी, हे स्ववशाविहारिणी
मातः, किस दोष से हुई तो रुष्ट इतना
इस स्वर्ण देश को यों मरघट वना दिया !
सर्पिणी-सी निज संतान को चबाती हुई
हाय, “जगदम्बा” का लजाया पद तुमने !!!
कर सकती जो नहीं त्राण आर्त्तजन का तो
धारण किया है क्यों कृपाण तूने कर में
बोल-बोल चंडी, बोल महिष-विदारिणी !
डूबती है लाज आज तेरे करवाल की।”
असनिनिनाद हुआ मंदिर में और फिर
कौंध उठी तड़िता—भभक उठी ज्वाला-सी।
छूटकर हाथ से कृपाण महामाया के
नीचे गिरा मानो गिरी उल्का गगन से,
और गिरते ही टूक-टूक वह हो गया,
गूँज उठा मंदिर कठोर झंकार से।
चौंककर देखा कवि चंद ने चकित हो,
काँपती है मूर्ति थर-थर ओस-कण-सी।
फिर तत्काल धूप-गंध वहाँ छा गयी,
सुन पड़ा देव-वाद्य दूर नभोदेश में,
आया मंद गंधवह पूर्वकृत पुण्य-सा !
कंटकित गात कवि चंद ने प्रणत हो

वाष्प-रुद्ध कंठ से पुकारा जगदम्बा को—
“शांकरी, क्षमा करो, दयामयी दया करो
क्षम्य अपराध है विकल-आर्त्तजन का !
देवि, इन्हीं आँखों से विभव आर्य-भूमि का
देखा है—किये हैं अम्ब, स्वागत भी मैंने
वीर आर्यसेना का, सगौरव समर से
लौटते असंख्य बार, आरती उतारी है
मैंने आर्यध्वज की, जो चिह्न था विजय का !
देखा, इन्हीं आँखों से विनाश कल देश का
देखा चूर होते गिरिराज को कृपामयी !
ठोकरों से—देखा सूख जाते सप्त सिंधु को
मुष्ठिमेय तृण की क्षणिक-तुच्छ आँच से ।
मान गया कुछ भी असंभव नहीं है किंतु
छाती जलती है देवि, मन-प्राण व्यग्र हैं ।”
कुछ क्षण चिंतामग्न बैठा रहा धीरधी
फिर दीर्घ श्वास त्याग चारों ओर देख के
बोला यों—“अभागी आर्यभूमि, यह तेरा ही
शेष वीर पुत्र, जो भरोसा था स्वदेश का,
सोया महानिद्रा में—अभय वैरी हो गये !
लूटो इस रत्नमय देश को विदेशियो !
आज द्वार मुक्त है, विरोध शेष हो गया !”
अश्रु पोंछ कवि ने उठाया शव राणा का
ले चला समरभूमि-मध्य मूक भाव से ।

× × ×

नर-मांस-भक्षी पशु-पच्छियों की भीड़ थी,
कोसों तक कोलाहल फैला था भयावना।
लाख-लाख गृद्ध उड़ते थे नभोदेश में
अंधकार छा गया था फैले हुए पंखों से।
एक बार चंद ने कराह-आह भर के
और की प्रस्तुत विशाल चिता बाणों की,
टूटे स्यंदनों की और भग्न धनुखंडों की।
शव को लपेटा, आर्य्यध्वज खोल सिर से,
रख दिया खंग एक पार्श्व में जो कवि को
राणा ने दिया था—फिर सादर प्रणत हो
बोला कवि—"सोओ, अब दिन शेष हो गया,
आयी महानाश की अमानिशा भयावनी,
जागेंगे पिशाच, निशाचारी नींद त्याग के!
सोओ वीर, भारत का रवि अस्त हो गया!
आशा है तुम्हारे इस दीप्त चितानल से,
कोटि-कोटि आर्यवीर तुमसे भी विक्रमी
होंगे कभी प्रकट, कृपाण लिये कर में।
व्यर्थ नहीं होगा बलिदान आर्यजन का,
व्यर्थ नहीं होगी यह आहुति त्रिकाल में,
इस महाकालानल तुल्य रण-यज्ञ की!
एक भी रहेगा शेष यदि आर्य जग में
आर्य-भूमि रह सकती है नहीं हाय रे!
इस भाँति लांछित, दलित, हतओज-सी।
कालानल बन के विनाश कर डालेगी

शत्रुओं का, एक-एक बूँद आर्य-रक्त की !"
टूटी तलवार और एक शिलाखंड से
अग्नि उत्पन्न किया घर्षण की विधि से।
देखते ही देखते चितानल की ज्वाला से
दग्ध-सी दिशाएँ हुईं और धूम छा गया !
कर के प्रणाम भस्म लेके महाबाहु की
कवि चंद चुपचाप आया लौट वन में।
आयी गोधूलि व्यग्र-विधुरा-बिलखती
धूलि भरे माँग में, सशोका-मुक्तकुंतला।
तारे दिखलाई पड़े, छोटे-बड़े बिखरे
मानो रत्नजटित विभूषण उतार के
फेंके पतिहीना ने विकल होके शोक में।

चतुर्थ सर्ग

बैठा है सभा में जयचंद शांत भाव से,
मानो गिरि ज्वालामुखी उर में भरे हुए
दीख पड़ता हो ध्यान-मग्न-सा, प्रशांत सा।
ऊपर हरीतिमा है, नाचते हैं निर्झर
कूजते हैं सरस विहंगम, तितलियाँ
मुख चूमती हैं सुमनों के मदमत्ता हो।
लोनी-लोनी नवल लताएँ लहराती हैं
किंतु अंतराल में अदम्य विस्फोट का
होता आघात-प्रतिघात है भयावना
बाहर की शांति पूर्वाभास है प्रलय का!

झलमल होते हैं विविध रत्न खंभों में
स्वर्णमयी सुंदर दिवालों की चमक से
आँखें चौंधियाती हैं—हृदय ललचाता है।
छत्रधर रूप में मनोज्ञ मनसिज है

छत्र लिए मोतियों का झालर है झूलता ।
चँवर लिये हैं अप्सरा-सी चारु चेरियाँ
मद विह्वलाक्षी, भरा यौवन छलकता ।
सज्जित सभा है नाट्यशाला-सी मनोहरा
आ रहा है त्रिविध समीर मधुमास का
फूले हुए फूलों की महक भरे श्वास में ।
सुन पड़ती है कूक कोयल की दूर से
वेणु और वीणा बजती है सप्त-स्वर में
गा रही है गायिका पिकी-सी मदमत्ता हो
सुमधुर स्वर गूँजता है अलसित-सा
मानो स्वर-धारा पर नृत्य करती हुई
उतर रही हैं मूर्च्छनाएँ गीत-लोक से !
बैठे हैं सभासद सदर्प वीर-वेश में
राजती है कलगी अनोखे उष्णीष में
छिटक रही है रम्य रत्न-संभवा विभा ।
घूमते हैं प्रहरी कृतांत-से भयावने
उन्नत शरीर पर कवच कसे हुए
एक-एक पग धरते हैं मत्तनाग-सा
जैसे घूमते हैं सिंह निर्जन कछार में ।
सारी सभा मंत्र-मुग्ध-जैसी बनी बैठी है
किंतु जयचंद का हृदय रह-रहकर,
उठता है व्यग्र हो, अधीर हो, अशांत हो !
आया वृद्ध चारण अतीत का प्रतीक-सा
श्वेत वस्त्र और झुर्रियों से भरा चेहरा ।

अस्थि-चर्मावशिष्ट देह जराक्रांत थी
किंतु इस्पात-सी कठोर दिखलाती थी ।
हाथ में थी यष्टि और कटि में थी झूलती
लम्बी तलवार झुकी पीठ पर ढाल थी,
मानो लदा पीठ पर यौवन का भार हो ।
दाढ़ी थी चढ़ी हुई, उमेठी कड़ी मूँछें थीं ।
आँखें जलती थीं घुसी कोटर के गर्त में
नखदंतहीन वृद्ध व्याघ्र-सा भयावना
आया जब चारण—सतर्क सभा हो गयी ।
गान रुका और रुकी वेणु-वीणा मुखरा
मानो देख ग्रीषम की ज्वालामयी मूर्ति को
सरस वसंत का हृदय थहरा उठा ।
भूल गये कूजना विहंग, भीत मधुकर
भागे सरसी की ओर कंज की शरण में ।
छाया लगी खोजने सुठौर छिप जाने की !
जयचंद बोला मुस्काता हुआ वृद्ध से
—"कैसे किया आपने अनुग्रह—कुशल है ?"
बोला तब चारण प्रणाम करता हुआ
पृथ्वीनाथ, आपका प्रतापादित्य जब लौं
भासता है अम्बर में कैसे तमरूपिनी
आपदा निगल सकती है प्रजाजन को !
हम हैं पदाश्रित विशेष कृपापात्र हैं
महाराज, चेरी है कुशल इस दास की !
चुप हुआ चारण, सभासद हुलास से

"जै जै महाराज की"—पुकार उठे सहसा।
गूँज उठी सारी सभा—शांति फिर छा गयी
किंतु दुर्दैव मुस्काया क्रूर-व्यंग से !
बोला तब चारण—"कृपालु, इस दास को
दे दो क्षमा-दान तो विकलता हृदय की
राज-चरणों में मैं निवेदन करूँ प्रभो !"
जयचंद बोला—"कवि, गौरव हो स्वदेश के
बोलो, तुम क्षम्य हो त्रिकाल में सदैव ही।"
"धन्य महाराज"—कहा चारण ने झुक के
सारी सभा उत्सुक हो बैठी साँस रोक के।
"जय हो महाराज की"—दहाड़ बोला वृद्ध यों—
पृथ्वीनाथ !—" रात एक स्वप्न देखा दास ने
देखा, एक निर्जन उजाड़ खुला प्रांत था
तृणहीन—मानो भाग्यभूमि हतभागा की !
वृद्धा एक आहत हो लोटती थी भूमि में,
सोने का किरीट पड़ा दूर—टूक-टूक था,
सिंह एक लोटता था छिदकर बाणों से,
रक्त बहता था वनराज के शरीर से।
फूटा हुआ मंगल-कलश था पड़ा हुआ,
एक ओर टूटी तलवार थी भयंकरा
मानो गिरा अम्बर से चंद्रमा द्वितीया का !
वृद्धा का शरीर क्षत-विक्षत था हाय रे
बेड़ियाँ थीं पैरों में—बँधे थे हाथ उसके,
चोंच मारते थे गृद्ध जीवित शरीर पर।

नोचते थे स्यार और स्वान घेर रोते थे
चीख उठती थी वह आहता कभी-कभी !
आया इतने में एक दैत्य महारोष से
कोड़ा लिये—मूर्ति हो कराल यमदूत की !
सहसा दिशाएँ हुईं दग्ध घोर ज्वाला से
गूँज उठा नभ में विलाप नर-नारी का ।
दौड़ा वह दैत्य दाँत पीसता दहाड़ता
रौंदा निज पैरों से किरीट को, कराह के
वृद्धा ने कहा यों—"अरे पातकी, दया करो
यह अपमान है असह्य, मैं विवश हूँ
धोखा दिया मेरे वीरपुत्र जयचंद ने
होते यदि मेरे वे सपूत तो त्रिकाल में
साहस न होता तुझे स्वप्न में भी भूल के
इस ओर झाँकने का—विधिगति वाम है ।
जिस भाँति तड़िता तड़पती है नभ में
ठीक उसी भाँति उस दानव ने कूद के
मारी एक लात उस वृद्धा के हृदय पै
और फिर गूँजा वायुमंडल कराह से
कुछ क्षण सोचकर वह भीम दैत्य फिर
वृद्धा पर हाय लगा कोड़े फटकारने ।
वह दृश्य हृदय-विदारक था, क्रूर था
सोचें महाराज सोचें जो-जो यहाँ बैठे हैं !
देव पूछता हूँ, पूछता हूँ प्रत्येक से
कोई समझा दे मुझे यह स्वप्न मिथ्या है

कोई समझा दे मुझे यह स्वप्न स्वप्न है
कोई समझा दे मुझे यह स्वप्न तुच्छ है ।”

रोया वृद्ध चारण, सभासद अधीर हो
रोये, महामानी जयचंद हुआ व्यग्र-सा ।
रोयी गायिका भी, छत्रधर छत्र रख के
रोया और चेरियाँ विलाप करने लगीं,
भूलकर संचालन करना चमर का ।
रोये वीर प्रहरी कृपाण रख म्यान में
इस भाँति सारी सभा आँधी में विषाद की
सूखी पत्तियों-सी क्षण में ही उड़ने लगी ।
“फिर बोला चारण यो बाष्परुद्ध कंठ से
जब आर्यभूमि इस भाँति पराधीना है
और जब डूबी लाज आर्य-करवाल की
घृणित पराजय की कालिमा में सहसा ।
ऐसी घड़ी में भी हम बैठकर मोद में
यदि झूमते हैं मद पी के उन्मत्त हो
फिर किस मुँह से कहेंगे कभी गर्व से
हम आर्यपुत्र हैं, हमारा यह देश है ।
खोके आत्म-गौरव स्वतंत्रता भी जीते हैं
मृत्यु सुखदायक है वीरो ! इस जीने से ।”

दीर्घ श्वास छोड़ के महीप स्वप्नाविष्ट-सा
सहसा खड़ा हुआ विसर्जित सभा हुई ।

जितने सभासद वहाँ थे प्रलयंकरी
ज्वाला उर-अंतर में भर के विदा हुए,
चिंताग्रस्त मंत्री चले, सेनापति क्रोध में ।
चारण का एक-एक शब्द वज्रनाद-सा,
हृदय कँपाता हुआ गूँज गया नभ में !

आई मोदपूरिता सोहागवती रजनी
चाँदनी का आँचल सँभालती सकुचती
गोद में खेलाती चंद्र, चंद्रमुख चूमती !
झिल्ली-रव गूँजा, चलीं मानो वन-देवियाँ,
लेने को बलैया निशा-रानी के सलोने की ।
फूल उठे कुमुद सरोवरों में मोद से,
सोये पालने में शिशु बिहँसे स्वपन में ।
भूमि से गगन तक उस मुस्कान की
फैली विभा बनके सुवास वन-फूलों की !

राजा जयचंद घूमता है आत्महारा-सा
निर्जन उदास पूर्ण शांत उपवन में ।
दीर्घ श्वास छोड़ता है और कभी रोष से
दाँत पीसता है बाँधकर दृढ़ मुट्ठियाँ ।
व्यग्र है महीप उग्र भावों के झकोरों में
मानो बिना नाविक की नैया पड़ी धारा में ।
फूटने के ज्वालामुखी पूर्व, महिधर की
जैसी गति होती है भयानक, अधीरता

फैलती है और काँपती है भूमि डगमग।
राजा व्यग्र हो के घूमता है उपवन में
सुख-स्वप्न जैसी निशा बीती चली जाती है।
ऊँघते हैं प्रहरी कृपाण लिये कर में
ऊँघती हैं बैठ 'अवरोधन' * में महिषी !
ऊँघता है झिलमिल प्रदीप एक कोने में
जलते हैं शलभ थके से निरानंद से।
ऊँघती है सुंदरी सलोनी नेत्ररंजिनी
गायिका, अधीरा बनी वीणा लिये गोद में,
और झंकार ऊँघती है मूक तारों में।
ऊँघती-सी आती है बयार मधुमास की
मधुयामिनी की सखी मधुमय वेला में।
जलकर शेष हुआ धूप धूपदानों में
अनाघ्रात पुष्पमाल्य हाय कुम्हला गये
बिखरी पँखुरियाँ गुलाब की कराह के।
मोद भरी सखियाँ थकी-सी लगीं ऊँघने
फीके पड़े अंगराग—ढीली पड़ी कवरी
ठंढे पड़े बेसर के मोती ओस-कन ज्यों।
निद्राकुल पीत शशि ढीली रास छोड़ के
अस्ताचल ओर चला मृगरथ हाँकता।
चिंतामग्न राजा घूमता है उपवन में
होकर विदेह-सा बिसार आत्मचेतना
बंद हुई आँखें—हुआ शिथिल शरीर भी

---

*अवरोधन = अन्तःपुर

खुल गये कल्पना के नेत्र महिपाल के।
दीख पड़ी वृद्धा पराधीना, दीना-वंदिनी
आर्यभूमि, रक्त वहता है अंग-अंग से।
आहत मृगेंद्र दम तोड़ता है पीड़ा से
लाख-लाख बच्चे लोटते हैं छिदे बाणों से
कुचले हुए हैं अंग उनके, कुसुम को
कुचल दिया हो जैसे मत्त करिराज ने!
रोती हैं असंख्य ललनाएँ सिर धुन के
पुत्र-पति-हीना, लुटी लाज आज जिनकी।
देखा उस वीर ने मसान एक जागता,
संख्यातीत मुर्दे पड़े हैं रक्त-कीच में,
स्यार और गृद्ध जिन्हें नोच-नोच खाते हैं।
डमरू बजाती हुई नाचती पिशाची हैं,
कर में त्रिशूल लिये नृत्यरत प्रेत हैं।
जलती दिशाएँ हैं, समीर मानो ज्वाला हो
झुलस गयी है शस्य-श्यामला धरित्री।
मेघ जलते हैं शून्य अंबर में रुई-सा,
जलते महीधर हैं और घोर नाद से,
गूँजता है अंबर शिलाएँ जब फटतीं।
बरस रही है तप्त राख दीप्त नभ से,
दीख पड़े पृथ्वीराज इस महानाश में,
कूदते हैं नंगी तलवार लिये कर में।
धधक रहा है रुद्र-तेज यों नयन से

जैसे हो निकलती दुनाली से तड़पती
ज्वाला, वायुमंडल को फाड़ती-दहाड़ती ।

देखते ही रौद्रमूर्ति वीर पृथ्वीराज की
चीख उठा राजा, ज्यों सहसा पथिक के
सामने भयानक मृगेंद्र कूदे काल-सा,
केशर खड़ा किये, निकाले दंत क्रोध में !
जागृत स्वपन था तथापि जयचंद ने
खीचीं तलवार और दौड़ पड़े प्रहरी ।
थर-थर काँपता था भींग के पसीने से
भयभीत राजा, घेर रक्षक खड़े हुए ।
होकर सचेत फिर लज्जित हो मन में
अंतःपुर ओर चला—लौट चले प्रहरी
एक दूसरे को देख मंद-मंद हँसते ।
दासियाँ सशंक हुईं, व्यग्र राज-महिषी
देख दशा राजा की विकल रनिवास था ।
आयी महारानी रुद्ध घर के कपाट को
देख पतिप्राणा हुई हतचेत चिंता से ।
साहस न होता था किसी को एक शब्द भी
एक दूसरे से बोलने का—मूक भाव से
—प्रश्न उर-अंतर में भरके थीं घूमती ;
दैव को मनाती थीं—विलोचन भरे हुए ।
आँसुओं से आँखें व्यग्र वाष्प-व्यग्र कंठ था ।
बंद कर भीतर से द्वार शून्य घर में

जयचंद चिंतामग्न होके लगा सोचने—
"आज महाराज पृथ्वीराज शेष हो गये,
इस भाँति कौशल से विजय मिली मुझे,
किंतु फाड़ जीत के कठोर वज्र हिय को
झाँकती पराजय प्रकाशमान रूप में।
मूर्खता है छत्रक की आड़ में नगेश को
छल से छिपाना—है घृणित आत्मवंचना।
अंबर से भूमि तक शून्यता है जितनी
आज वह पूरिता है घोर धिक्कार से।
कैसे मैं छिपाऊँ इस अधम शरीर को—
कोटि-कोटि रोषपूर्ण जलते नयन से।
कोटि-कोटि उठती उँगलियाँ हैं—अब क्या
संभव है निज को छिपाना, धिक्कार है।
मथकर द्वेष-सिंधु मैंने महा यत्न से
बाहर निकाला जिस घोर हलाहल को
उसकी विषाक्त घोर ज्वाला से तड़पती
झुलस रही है मातृभूमि निरुपाय हो।
हाय, बना मैं ही इस नीच नर-मेध का
पातकी पुरोहित—बनूँगा अब समिधा!
हार गया पार्थिव शरीर दिल्लीपति का,
आज वह अंधा बना, बंदी बना गोरी का,
किंतु दिव्य यशःशरीर उस आर्य का
मुक्त है, सबल है, चिरंतन है, सत्य है।
संभव नहीं है उसे खंग के प्रहार से

खंड-खंड करना, मिटाना, नाश करना ।
आज पृथ्वीराज की सुकीर्ति दाँत पीसती
नाश किये डालती है मेरे यश-मान को ।
साहस नहीं है कभी रूप देखूँ अपना
भूल से ही मुकुर उठाके एक बार भी,
नित्य धिक्कारता है मेरा मन मुझको,
निश्चय ही चारण ने सत्य कहा क्षोभ से—
मृत्यु सुखदायक है, वीरो, इस जीने से ।"
हाथ जोड़ बोला साश्रु नयन महीप यों—
"मातृभूमि, इस तुच्छ जन को क्षमा करो !
धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीर का !
आज तक खेयी तरी मैंने पाप-सिंधु में
अब खेऊँगा उसे धार में कृपाण की !
विनय यही है महामाया के चरण में—
साहस दो, धैर्य दो, पराक्रम दो, बल दो,
और आर्य-गौरव का उज्ज्वल प्रकाश दो ।"

× × ×

रजनी विदा हुई प्रतीची के भवन में,
छा गयी ललाई पूर्व अम्बर के कोने में,
मानो प्रतिबिम्ब झलका हो रणभूमि का
आयी उषा सुंदरी सोहागवती धीरे से,
सकुची कुमुदिनी, कमल हँसे मोद में ।
एक का विषाद दूसरे की हँसी सुख की,
विधि की विडम्बना का निर्मम प्रमाण है ।

पंचम सर्ग

पांडवों की दिल्ली सजी द्रौपदी-सी सुंदरी
पाँच पतिवाली—हाय, अक्षय सोहाग है ।
संख्यातीत पति जिस नारी के सोहाग की
एक दूसरे के बाद रक्षा करते रहे,
बार-बार जिसका सोहाग धुला रक्त में
बार-बार विधवा बनायी गयी विधि से,
किंतु है न अंत पतियों का—थका दैव भी
हरण सोहाग कर उस महा वेश्या का ।
आज भी अनेक पतियों की करुणा भरी,
अमित समाधियों से यह विश्वमोहिनी,
अपने सजाके अंक उत्सव मनाती है ।
कैसा शृंगार है भयानक, विषाक्त है ;
इस रूपगर्विता का घृणित पिशाची-सा !
पाशा पतियों की अस्थियों के बना राक्षसी
खेलती है चौसर अशंक दुर्दैव से

अपने सोहाग की लगा के नीच बाजियाँ,
जीत में तो जीत ही है—हार में भी जीत है !

अमर सोहागवती हस्तिनापुरी सजी
जैसे सजती है दुलहिन पूर्व ब्याह के,
किंतु वह जानती नहीं है वर उसका
मारा गया दस्युओं से मार्ग में ही, जितने
साथ में बराती थे, गये वे यमपुर को !
एक जो बचा है वह भग्न-दूत बन के
आ रहा है ढोता हुआ भार महापीड़ा का !
आधी रात हो रही है किंतु महानगरी
जागती है, राजपथ उज्ज्वल प्रकाश में
उद्भासित होके हँसता है ; जनाकीर्ण हैं
और जितनी हैं रम्य बीथियाँ नगर की ।
जगमग हो रहे हैं दीप घर-घर में,
निकल रही है गंध धूप, मृगमद की !
द्वार-द्वार मंगल-कलश है विराजता,
झूलते हैं पल्लव रसाल के बँधे हुए,
द्वार-द्वार, इस भाँति दिल्ली मोद-पूरिता,
दीख पड़ती है ; पुरवासी अति व्यग्र हो
करते प्रतीक्षा हैं महान् आर्य-सेना की !
कब लौटते हैं महाराज चिर-विजयी
बाँधकर गोरी को, अनार्यों को खदेड़के,
स्वागत-हितार्थ नर-नारी उत्सुक हैं ।

आधी रात हो रही है, जागते हैं नभ में
जगमग तारे और तारापति हँसते।
मानों नील मानसर-मध्य हंस तैरता,
तारे हैं मराल-शिशु-जैसे बिखरे हुए।
नीचे जागती है राजधानी आर्यभूमि की
दिल्ली, जिस भाँति जागती है बारवनिता,
सारी रात करती प्रतीक्षा बैठ मूढ़ की,
दैव को मनाती है, पुकारती है पाप को।
क्रमशः शून्य हुआ राजपथ, वीथियाँ
सोयीं अंधकार के हृदय से लिपटी हुई।
एक-एक दीप बुझा दीर्घ श्वास छोड़के,
लीन हुई छाया महा तम के समुद्र में।
बैठ गये शलभ हताश हो, उदास हो
घेरकर निर्वापित ज्योतिहीन दीप को।
अधजले शलभ कराहकर पीड़ा से
बोले—निशानाथ, तुम तेज दो प्रदीप को
जलकर आज हम पूरी करें लालसा।
सुख में मरणमय प्राणों को सुखाते किंतु,
मूल्यवान मृत्यु बन जाती है विपत्ति में।
मृत्यु और जीवन में घोरतर होड़ है।
जीवन का मूल्य गिरता है तब मृत्यु का
मूल्य बढ़ जाता है—सनातन प्रमाण है।

× × ×

दूर राजपथ से छिपा के मानो निज को

लोक-लोचनों से एक भवन सुहावना
बाटिका के मध्य राजता था ज्यों कवित्व हो
शोभित सुकवि के सुवासित हृदय में।
किंवा भव्य भाव हो विराजता, विहँसता
कल्पना के फूले कुसुमों की मृदु गोद में।
भीतर भवन के प्रकोष्ठ एक दिव्य है,
धूप-गंध-मोदित है वायु उस गेह की।
पुष्प-माल्य लटक रहे हैं ठौर-ठौर पै,
पात्रों में भरा है उपहार मधुमास का
मधुमय गंधवाले कुसुम ; प्रदीप है
करता विकीर्ण मृदु ज्योति जल-जलके।
निज को मिटाये बिना मोहहीन बनके
संभव नहीं है शांति पाना ; सुख देना।
कृष्णाजिन सुंदर बिछा है, एक ग्रंथ है
उसपर शोभित—है धूप धूपदानों में
जलकर वायु को विमुग्ध किये डालता।
ग्रंथ पर फूल और माला है चढ़ी हुई,
रक्खा है कृपाण एक पुस्तक के सामने ;
पूजित है चंदन से, पुष्प और भक्ति से।
बैठा है युवक एक दूर पर सामने
रखकर भुर्जपत्र, मसिपात्र, लेखनी।
वह ध्यानमग्न है तथापि शांत मुख पै
उठती हिलोरें हैं विचारों के समुद्र की।
चंद ने प्रवेश किया घर में हताश-सा

साथ में थी व्याकुला, अधीरा, घोर चिंतिता
देवी कविरानी, मानो मूर्तिमती कविता
छाया बनी आयी हो कवींद्र से यों पूछती—
"त्यागकर इस तुच्छ दासी को कृपानिधे !
आपने क्यों नेह जोड़ा कुलटा कृपाण से ?
धोखा दिया इसने सभी को मँझधार में,
चाटती है रक्त यह राक्षसी सदैव ही
निज प्रियतम का, निजाश्रितों का स्वाद से।"

कवि चंद दीख पड़ता था अर्द्धवृद्ध-सा
त्योरियाँ चढ़ी थीं, भाव-भंगी विकराल थी।
झाँकती थीं आँखें घुसी कोटर में ज्वाला-सी,
भभक रही थी रह-रहके भयावनी।
चुपचाप आयी कविरानी साथ कवि के,
आया चंद इस भाँति मानों चोट सहके
कुचले हृदय से सिंह लौटा निरुपाय हो
अपनी गुफा में, गुर्राता दाँत पीसता।
उठके युवक ने प्रणाम किया भक्ति से,
दीर्घ श्वाँस छोड़के कवींद्र बैठा धीरे से।
बोली कविरानी—"नाथ, कब आये रण से ?
देखती हूँ, विक्षत शरीर है, निरस्त्र हैं,
लक्षित है आपसे फलाफल समर का।
बोलें, किस भाँति आप आये महारण से
पृथ्वीनाथ आर्यपति आये सकुशल हैं ?

सुनती नहीं हूँ सिंहनाद आर्य-सेना का,
सुनती नहीं हूँ जय-घोष मातृभूमि का,
सुनती नहीं हूँ आज धौंसे की धुकार मैं,
दासी माँगती है क्षमा शंकाग्रस्त मन है ;
बोलें आर्य, हृदय विकल है, व्यथित है ।"
बोला कवि चंद वाष्परुद्ध-श्रांत स्वर में—
"देवि, आज बंदिनी हमारी मातृभूमि है
धुल गया फिर से सोहाग इस दिल्ली का !
आज आर्यसत्ता का प्रताप मिला धूल में ।
डूब गया सहसा दिवाकर समर के
आँगन में—लुट गया गौरव स्वदेश का ।
किस भाँति कैसे कहूँ वाणी भी विरत है
आर्यपति पृथ्वीराज आज शेष हो गये ।"
मौन कवि चंद हुआ, दीर्घ श्वास छोड़के
मौन कविरानी भूमि तर्जनी से खोदती,
मौन जलता है दीप ज्वाला-भरे उर में
मौन बनी आती है बयार मधुमास की ।
मौन नील अम्बर में तारापति मौन हैं,
मौन है धरातल, दिशाएँ शांत मौन हैं ।
बोला कवि चंद—"देखा देवि, स्वर्गभूमि को
परिणत होते तुच्छ रौरव नरक में,
वीर जितने भी आर्यभूमि के सपूत थे
हाय, बहे-बूड़े तीक्ष्ण धार में कृपाण की ।
एक मैं ही लज्जाहीन—काल की उपेक्षा से

बचकर आया भार लादे घोर लज्जा का ।
संभव है मेरे इस कायर शरीर को
छूने से घिनायी मृत्यु, काँपी रणचंडिका ।
देखता हूँ आज राजधानी सजी बैठी है,
आरती उतारने को, वीर आर्य-सेना की ;
पूजने को बाँह चिर-विजयी नरेंद्र की ।
कह दो इसे—"हे राजलक्ष्मी, फेंक आरती
आगे बढ़ो लेकर कृपाण क्रुद्ध चंडी-सी ।
त्यागो यह भुवन विमोहिनी-मधुरिमा,
दूर फेंको कंकण, उतार फेंको किंकिणी,
धो दो अंगराग जमुना की शांत धारा में ।
आँचल उतारके कसो माँ, कटितट में
कूद पड़ो भूखी सिंहिनी-सी मृग-झुंड में ।"
कुछ क्षण कल्पना के लोक में विहारकर
कल्पना का एकच्छत्र राजा कहने लगा—
"रूठ गया भाग्य और रूठी रणचंडिका,
रूठी तलवार, रूठी वीरता समर में ।
रूठी राजलक्ष्मी जब रूठे भगवान भी,
देखते ही देखते विनाश हुआ देश का,
देखते ही देखते पराजय के पंक में
डूबकर नष्ट हुआ इन्दीवर, शोक से,
आज फटती है देवि, छाती चित्त व्यग्र है ।
ओर-छोर सूझता नहीं है अब क्या करूँ ?"
बोली कविरानी—"आर्य, इतनी हताशा आज

शोभा नहीं देती आप-जैसे धीर-वीर को।
भाग्य क्या है निर्बलों का तुनुक सहारा है,
वीर निर्माता हैं स्वयं निज भाग्य के।
पूछते हैं विधना स्वयं कर्मवीर से—
'क्या लिखूँ तुम्हारे भाग्य-पट पर तुम्हीं कहो।'
आप कर्मवीर हैं, महान् आर्यभूमि की
वाणी बोलती है आर्य! आपकी ही भाषा में।
स्वर, दान देकर असंख्य मूक जन को,
आपने निहाल किया, और ओज भरके,
आपने बनाया वीर इस आर्य-जाति को।
आप निज भाग्य के स्वयंभू निर्माता हैं,
कायरों का भाग्य लिखा जाता है विधाता से।
नाथ, इतिहास कहता है, भगवान भी
देते सदा साथ हैं सबल का, त्रिकाल में।
रीझते हैं देव नहीं पूजा, नृत्य, गान से,
रीझते हैं देव नहीं व्रत-उपवास से,
रीझते हैं देव नहीं, ध्यान से, समाधि से,
आर्य, इस दासी को कहा था कभी आपने
रीझते हैं देव कर्मवीर की दहाड़ से।
देव, इस दासी की मुखरता क्षमा करें।
साहस है जीवन, हत-आशा ही मृत्यु है!"
सुनकर बातें कविरानी की; कवींद्र की
फड़कीं भुजाएँ, खून दौड़ा रग-रग में,
रक्त बहा सूखे हुए क्षत से प्रहारों के।

जैसे सुन डमरू-निनाद फणि मत्त हो
फूत्कार करके उठाता फणा रोष में।
फूल उठी छाती, चढ़ी त्योरियाँ गजब की,
आँखें हुईं लाल, बोला कवि चंद रोष में
—"आर्य—मैं हताश नहीं हूँगा और अंत तक
जुझूँगाँ—करूँगा प्रतिपाल आर्य-धर्म का।"
किंतु एक बात है—कवींद्र बोला रुकके
—"चिंता यही होती है कि मेरे महाकाव्य का
शेष सर्ग शेष है, लिखेगा कौन उसको ?"
बोला तब युवक प्रणाम कर धीरे से—
"देव, मैं लिखूँगा हो निदेश इस दास को
पूर्ण कर दूँगा इस पूज्य महाकाव्य को।"
बोला कवि चंद स्नेह-गद्‌गद कंठ से—
"पुत्र जल्ह, चिंता मिटी, भार-मुक्त हो गया।
लेखनी सँभालो तुम, लूँगा तलवार मैं,
भारती से आज मेरी अंतिम विदाई है।"
सादर प्रणाम कर माता के चरण में,
जल्ह ने लगायी पद-रज पितृदेव के
पद-कमलों की निज भाल में, कवींद्र ने
वाष्परुद्ध कंठ से पुकारा जगदम्बा को
कवि-मन-मानस मनोज्ञ—लोकवासिनी
देवी विश्वभारती को दोनों हाथ जोड़के
—"मातः, आज होता हूँ विरत पद-सेवा से।
धधक रही है आग मेरी मातृभूमि में

कैसे मैं बजाऊँ वीन बैठकर अम्बिके !
दम घुटता है भरा धूँआ घट-घट में ।
जिस भाँति मेरी कल्पना की स्निग्ध छाया में
भारती ! तू सृष्टि करती थी महागान की
वैसी ही दयामयी, दया की सुधा-वृष्टि से
सिंचन करो माँ, इस सेवक की कल्पना ।
मैं तो विदा होता हूँ तुम्हारे कंज-वन से,
अब तो प्रवेश करना है महाकाल का,
फाड़कर हृदय असनि जिस वेग से,
करता प्रवेश है विदीर्ण कर गिरि को ।
वत्स जल्ह, अब खेलता हूँ खुल नाश से
खेलो तुम भारती की स्नेहमयी गोद में ।"
कवि चंद मौन हुआ धारा वही नाचती
वीररस और शांतरस की कवींद्र के
एक-एक शब्द से—कहा यों कविरानी ने—
"आर्य, अब आप विश्राम करें और मैं
जाती हूँ सुनाने समाचार महारानी को,
होगी राजमहिषी भवानी के भवन में ।
पाया अभिशाप महिषी ने वरदान के
हाय, बदले में, वरदान मिला गोरी को ।
जो हो नाथ अब तो फलाफल की चिंता क्या !
रण में नरेंद्र गये और राजमहिषी
मंदिर में अम्बा के पधारीं, आज तक वे
लौटी नहीं—रात-दिन सेवा में निमग्न हैं ।"

पूजा करती है सती रानी सती देवी की
किंतु सब व्यर्थ हुआ अंत में भवानी ने
साथ दिया गोरी का, अगम्य दैव-लीला है।"

× × ×

श्याम नभ ऊपर है, नीचे श्याम जमुना,
बीच में यों झलकी ललाई लाल ऊषा की,
तमपूर्ण गहरी निराशा के हृदय में
झलकी सुवर्णमयी आशा-ज्योति हँसती।
चुपचाप विकल, विषाद भरी रोती-सी,
दीर्घ श्वाँस छोड़कर रजनी विदा हुई।

षष्ठ सर्ग

वीणापाणि, काव्यरूपे, जड़तम-हारिणी
कवि-रम्य-मानस-विहारिणी, हे वरदे !
भावुकों के हृदय तुम्हारी रम्य वीणा के
तार से बने हैं जगदंबे ! तार-तार हो ।
निकलीं खगोल से छिटक रवि-रश्मियाँ
छूती भूगोल को, हों जैसे तार वीणा के
दोनों गोल तूँबियों के बीच में तने हुए !
देवि ! तुमने तो सुधाधार बरसाई है,
सींचा है हृदय रसिकों का मधुवर्षिणी !
पिघला शिला का भी हृदय निर्झर हो,
सूखे हुए पादपों में फूल हँसने लगे !
कवि की सलोनी कविता के मानसर में
संख्यातीत स्वर्ण-जलजात मधुभार ले
खिल उठते हैं मा, तुम्हारी मुस्कान से !
होती है विभा मय तुम्हारे पदनख की

अमल-धवल-ज्योति पाके कवि-कल्पना !
किंतु आज युग पलटा है भीम वेग से,
शीतल दिनेश हुआ और सुधाकर से
देखो, छूटती हैं फुलझड़ियाँ दवाग्नि की !
तांडव-निरत नटराज होंगे मत्त हो ;
आज उगलेंगे कालकूट, नील कंठ से !
चंडिका का होगा लास्यनृत्य अणु-अणु में,
आज घिर जायेंगी दिशाएँ काल-ज्वाला से
एक-एक तारा जलकर बुझ जायेगा ।
दिविलोकवासिनी, पधारो विश्व-भारती !
मैं भी मदमत्त हो प्रलय-गान गाऊँगा ।
अब तो मिला लो जरा, अपनी विपंची को,
मेरे इस घोर हाहाकार भरे स्वर में ।

× × ×

मर्मर गठित महामाया का भवन है,
ठौर-ठौर ज्योतिर्मय रत्न हैं जड़े हुए,
मानों दीप्तमान हैं नखत नभोदेश में ।
दीप जलते हैं चारु स्वर्ण के प्रदीपों में,
धूप-गंध मोदित है वायु उस ठौर की ।
चारों ओर वाटिका है नंदन-विपिन-सी,
लुब्ध है बसंत, गाती है मुग्ध कोकिला ।
लोनी-लोनी नवल लताएँ लहराती हैं,
नाचती-सी आती है बयार मधुमास की,
मादक पराग भरे; मधुकर खोये-से,

चूमा करते हैं कलियों के मुख मोद में।
तैरते हैं हंस सरसी के स्वच्छ जल में,
जैसे तैरती हो कवि-मानस में कल्पना।
छवि है निराली विकसित सरसिज की,
मानों खोल शत-शत नयन हुलास से
शोभा देखती हों जलदेवी उपवन की।
नीरवता फूली वहाँ फूल वन वन के,
बरस रही है शांति मानों नील नभ से।
आयी एक शिविका मनोहर ; स्वपन-सी
नील वस्त्रधारिणी सुश्यामोत्पल-रूपिणी,
उतरी कवींद्र-प्रिया चुपचाप छाया-सी।
मंद-मंद मधुर मराल-जैसी गति से,
मंदिर की ओर चली चिंतामग्न रूपसी।
लाल-लाल आलता-विनिंदित चरण में
wonderfulness"
चुभ जाती थीं वन-फूलों की पंखुरियाँ ;
बिखरी पड़ी थीं जो मधुप-पद-भार से।
आगे बढ़ती थी कविरानी पर क्षोभ से,
पीछे पड़ते थे पग—निज से उलझती,
रुक-रुक आगे बढ़ती थी मग्न चिंता में,
साहस का दामन पकड़ पथ भूली-सी।
मानों निशा जाती हो उदास बनी श्रांत हो
स्वपन समेटकर सुप्त धरातल के।
मर्मर की सीढ़ियों को पार करती हुई
पहुँची जहाँ थी राजमहिषी विराजती

ध्यान-मग्न, मानों महाश्वेता तपमग्न हो ।
ऊँची वेदिका पै प्रतिमा थी महामाया की,
शीश पर रत्नमय मुकुट लुभावना
शोभित था ; रत्नसम्भवा थी विभा निखरी ।
मानों शत-शत इन्द्रधनुष लुभावने
चारों ओर अंबा के प्रकाश फैलाते हों ।
विविध विभूषणों से मंडिता भवानी थी,
सामने था मंगल-कलश पूर्ण जल से ।
घृत-पूर्ण दीप जलते थे दीपदानों में,
अनाघ्रात फूलों की महँक थी भरी हुई ।
बैठी एकाकिनी तपस्या-रता महिषी,
रानी पहने थी पीत चीनांशुक उसमें
शोभती थी जर की किनारी नेत्र-रंजिनी ।
मानों शचीरानी घिरी सोने की घटाओं से
और लिपटी हो जलधर धौत-दामिनी ।
पूजा करती थी जयदायिनी की भक्ति से,
जय-हेतु——त्यागकर राजसुख स्वेच्छा से ।
धूमावृत ज्वाला-सी दीखती महारानी थी,
मंदिर प्रकाशित था तप के प्रकाश से ।
मानों पूजती हो रतीरानी सतीरानी को,
प्राप्त करने को निज भस्मीभूत पति को,
अतनु हुआ था जो पिनाकी के नयन से
निर्गत, घोरतर सर्वमुख-ज्वाला में ।
आर्द्र कविरानी कवि-कल्पना-सी सहमी,

मूर्तिमती चिंता चली मानों सकुचाती-सी
प्रलय मचाने शांति देवी के भवन में ।
बैठ गयी अम्बा को प्रणाम कर धीरे से ।
कुछ क्षण बाद महिषी ने खोल अपने
इंदीवर नयन, उठाके पुष्प-अंजली,
झुककर भक्ति से चढ़ाई जगदम्बा के
भवभयहारी चरणों में, मंत्र पढ़के ।
उठ कविरानी ने सुधा-सी मधु-वाणी में
"स्वस्ति" कह आशिष प्रदान किया रानी को ।
चौंकी राजमहिषी कवींद्रप्रिया स्नेह से
बोली—"देवि, आप यह पूजा शेष कर लें
करना निवेदन है सेवा में इसीलिये
कष्ट दिया आपको, क्षमा करें दयामयी !"
रानी मुस्काई फिर शेष कर अर्चना
बोली—"देवि आर्ये, कहें अपनी कुशलता ।"
दीर्घ श्वास त्याग कविरानी कहने लगीः—
"आर्ये, है कुशल पर आप जरा स्वस्थ हों,
तब मैं सुनाऊँगी कहानी उस युद्ध की ;
जिस युद्ध में है लुटा भाग्य आर्य जाति का ।"
क्षणमात्र के लिये विकल महिषी हुई,
किंतु मन स्वस्थ कर बोली दृढ़ स्वर में:—
"आर्ये ! आप जानती हैं मेरे रग-रग में
आर्य-रक्त खौलता है, मैं हूँ आर्य वीर की
पत्नी, और आर्य देश की हूँ राजमहिषी ।

देखने में मांस का शरीर है तथापि यह
सह सकता है चोट वज्र की भी हँसके ।”
बोली कविरानी—“धन्य-धन्य भारतेश्वरी,
आशा ऐसी ही थी, न होगी कभी अपनी
आर्यभूमि लांछिता कदापि किसी काल में,
आप-जैसी वीर-व्रतधारिणी स्वदेश में
जब तक जीवित हैं ; रक्षित है आप से,
आर्यावर्त, आर्य जाति, आर्य-धर्म, सुनिये
—युद्ध हुआ शेष, आर्य सेना शेष हो गयी ।
शेष हुआ पौरुष महान् आर्य जाति का,
शेष हुआ गौरव ; विलीन हुआ ओला-सा
हाय ! चिर-संचित सुयश आर्यभूमि का ।
शेष हुए आर्यपति इस महानाश में ;
विजयी अनार्य हुए, आर्यों की विजय का
डूब गया भासमान भानु असमय में ।
आये भग्नदूत बन कवि उस युद्ध से,
भेजा है उन्होंने मुझे सेवा में सुनाने को,
यह दुःखवार्ता ;—दिया है दंड विधि ने
हाय, इस दासी को न जाने किस पाप का ।”
मौन कविरानी हुई, मौन राजमहिषी
मौन राजती थी अम्बिका की दिव्य प्रतिमा ।
चुपचाप जलते प्रदीप थे अवाक्-से ।
बोली महारानी—“देवि, आदिशक्तिरूपिणी,
तूने साथ छोड़ दिया संकट में—शोक है,

काँप उठा तेरा भी हृदय भयत्रस्त हो
सुनके दहाड़ अम्ब, मेरे दुर्भाग्य की ।
डरती नहीं हूँ आपदा से मुझे शक्ति दे,
रौंदकर नष्ट कर डालूँगी विपत्ति को ।
साहस दो केवल सहारा नहीं चाहिए ।
आज पतिहीना हुई, शोक नहीं इसका,
अक्षय सोहाग हुआ मेरे आर्यपुत्र तो
अजर-अमर हैं सुयश के शरीर में ।
कायरों की मृत्यु साँस-साँस पर होती है,
काँपता है मरण पराक्रमी की छाया से ।
किंतु हिया फटती है सोच दशा उनकी,
जिन अबलाओं का सुहाग लुटा रण में ।
आँसू पुछ जाते दुःख दूर होता उनका,
यदि प्राप्त होती जय, देश होता विजयी ;
डूब जाती पीड़ा जय-सुख के समुद्र में ।
कैसे उन्हें तोष दे सकूँगी यही चिंता है,
कैसे आर्यभूमि की कटेंगी क्रूर बेड़ियाँ,
कैसे आर्य जाति की सुकीर्ति बचा पाऊँगी ।"
चिंता-मग्न रानी हुई फिर चौंक रोष में
बोली—"कविरानी, आप अपने कवींद्र से
जाकर निवेदन करें, वे जिस वाणी से
अर्चा करते थे भारती की प्रेम-गान से,
और सुधा-वृष्टि करते थे काव्य-रूप में,
आज उस वाणी को निरत कर डालें वे,

ज्वाला भड़काने में ; लगा दे निज शक्ति को
त्राण करने में आर्य जाति का, स्वदेश का ।
चिंता नहीं देखूँगी स्वयं खुले युद्ध में,
पानी कितना है शत्रुओं की तलवार में ।"
क्रुद्ध सिंहिनी-सी महिषी ने दीप्त क्रोध से
एक बार देखा दाँत पीसके भवानी को
काँप उठी प्रतिमा, प्रदीप बुझा धीरे से,
फूट गया मंगल-कलश, और रवि का
तेज मंद हो गया, दिशाएँ स्तब्ध हो गयीं !
उल्काएँ असंख्य गिरीं, काँपी धीर वसुधा,
सरस बसंत हुआ परिणत ज्वाला में ।
आयी तप्त वायु, सर्पिनी-सी फूत्कारती,
दग्ध हुए फूल, तप्त धूल उड़ने लगी,
ऋतु-परिवर्तन हठात् ही हुआ वहाँ ।
जिस भाँति डालने से घृत यज्ञकुंड में,
ज्वाला महावेग से तड़पती है विज्जु-सी,
ठीक इसी भाँति उठी रानी, किंतु हाय रे
सिर चकराया गिरीं घूम, कविरानी ने
रानी को सँभाल लिया बढ़कर यत्न से ।
गंगा गिरी मानों रविनंदिनी की गोद में
अंक में धरा के गिरी बिजली तड़प के ।

× × ×

जैसे फैल जाता है हुताशन विपिन में,
फैला समाचार उसी भाँति राजधानी में ।

'हार गयी आर्य-सेना, गोरी से समर में
आर्यपति पृथ्वीराज वीरगति पा गये ।'
देखते ही देखते हुलास शेष हो गया
बुझ गये दीप, दीर्घ श्वास के झकोरे में,
क्षणमात्र में ही तम छा गया निराशा का ।
विकल विवश हतज्ञान बने नागरिक
निज कर्त्तव्य-पथ खोजने लगे वहाँ ।
खो गयी चेतना सचेतों की, हताश हो
जो-जो नीतिज्ञ थे अधीर भीत हो उठे ।
राजपथ और वीथियों में व्यग्र भाव से,
घूमते थे नागरिक, एक प्रश्न सबके
मन को मथन किये डालता था वेग से ।
'—किस भाँति देश की, स्वतंत्रता की रक्षा हो ;'
और लगी फैलने भयानक विषाक्त-सी
घर-घर मूढ़ किंवदंतियाँ; विकलता
फैल चली साथ अव्यवस्था के नगर में ।
कोई कहता है—द्रोह फैला पंचाल में,
कोई कहता है—द्रोह फैला बंग देश में !
कोई कहता है—दाक्षिणात्य चढ़े आते हैं,
कोई कहता है—साथ सेना के उमड़ता
गोरी आ रहा है लूटपाट करता हुआ ।
द्वार सब रुद्ध हैं नगर के, सतर्क हो
रक्षा करते हैं शस्त्रधारी भयत्रस्त-से
किंतु शस्त्र भारवत् ढो रहे हैं श्रांत-से

उठ गया मन से भरोसा तलवार का।
बद्धमूल हो गयी पराजय की भावना,
मान लिया निज को पराजित हृदय से।
इस भाँति आर्यों ने स्वयं निज कर से
अपनी बनायी चिता हाय जल जाने को।
रक्षा करते हैं सबलों की भगवान भी,
कायरों का रोदन-विलाप ही सहारा है,
डूबते अभागे निज आँसुओं की धारा में।
कवि चंद घूमता है व्यग्र हो नगर में,
ज्वाला भड़काता फिरता है दीप्त बानी से।
व्यर्थ है प्रयत्न यह साधना विफल है,
संभव नहीं है तप्त होना हिम-खंड का।
किंशुक का फूल लाल होता अंगार-सा,
किंतु है अभाव हाय, दाहकता का वहाँ।
सुनते अवाक्-से खड़े हो कवि-वाणी को
फिर दीर्घ श्वाँस छोड़ श्रोता चले जाते हैं।
कवि चंद चाहता है गतिमान शव में,
प्राण फूँक डालना, परंतु उस वीर को
मिलती विफलता भगीरथ प्रयत्न में।
इस भाँति खोके पूर्व गौरव की गरिमा,
आर्य हतचेत हुए, देश मिला धूल में।
आती है कुबुद्धि पराधीनता के साथ ही,
शुचिभेद तम रजनी के साथ आता है।
थम जाता है जब वेग घोर झंझा का,

टूटे हुए वृक्ष जनपद उजड़े हुए,
शेष बच जाते हैं, विनाश के प्रतीक-से।
ठीक इसी भाँति जब राष्ट्र महानाश से
होकर पराजित कराहता है पीड़ा से,
छिप जाती है तब छाया-सी मनुष्यता,
रौरव नरकवत् उस नष्ट देश के
घृणित निवासी दिन काटते हैं दुःख के।
कवि चंद चाहता था आकुल हो देश में,
पूर्वस्थिति लाना, प्रतिशोध लेना शत्रु से।
मानों वह खोजता हो तम में अतीत को
लेके निर्वापित प्रदीप, श्रांत कर में।
आगे बढ़ता था तीक्ष्ण काँटों से उलझता
ऐसी हो गयी थी दयनीय दशा कवि की।

सप्तम सर्ग

आधी रात हो रही है, सुप्त धरातल है
मंत्रणा-भवन में पधारीं राजमहिषी
रानी भारतेश्वरी, ज्यों मूर्तिमान धीरता।
रत्नमय सोने का किरीट है—नगेश की
चूड़ा पर जैसे अंशुमाली का मयूख हो।
रानी दिखलाई पड़ी ऐसी स्वेत वस्त्र में
चंद्रिकामयी हो मानो शर्वरी प्रभात की।
साथ में थीं चेरियाँ, कृपाण लिये कर में,
जिन हाथों में मेंहदी की भरी लाली थी।
उन्नत उरोज पर कवच कसे हुए,
वंदिनी है मानों सुकुमारता हृदय की,
क्रूर कर्त्तव्यरूपी वज्र के कपाट में।
पीठ पर डोलती थी वेणी साथ ढाल के
कच्छप की पीठ पर लोटती हो सर्पिणी।
क्षीण कटि में था कटिबंध और उसमें

झूलता था म्यान, रत्नजटित सुहावना ।
कोकनद-जैसे लाल आभा भरे मुख थे,
सिर पर सोने का सुरम्य सिरस्त्राण था,
मानों रवि-किरणें सिमटकर बैठी हों
विकसित इंदीवर पर, हतचेत हो ।
मंत्री हैं विराजते कठोर धीर मुद्रा में,
कवि चंद बैठा है निमग्न घोर चिंता में
मानों एक चित्र हो विषाद का बना हुआ ।
घर में प्रकाश मंद फैल रहा दीप का
और हिलती है दीर्घ छाया भयदायिनी,
द्वार सब रुद्ध हैं—सतर्क शस्त्रधारी हैं
घूम रहे चारों ओर—निर्जन कछार में
जैसे घूमते हों व्याघ्र टोह में शिकार की ।
आती है हवा भी थर्राती हुई भय से,
दूर से ही झाँककर नींद लौट जाती है ।
बैठी सम्राज्ञी शांत, मानो घोर तर्क में
राजती हो प्रज्ञा स्निग्ध उज्ज्वल प्रभामयी
बोली महारानी—“यह रण शेष हो गया
किंतु निर्णायक समर अभी शेष है ।
आर्यपति शेष हुए—चिंता नहीं इसकी
होती सती लेके पादुका मैं महाराज की
किंतु कर्त्तव्य मुझे रोकता है—क्या करूँ
उचित नहीं है इस संकट में देश का
साथ छोड़ देना—घोर घृणित अधर्म है ।

राजा चले जाते हैं अनेक किंतु राज्य का
होता नहीं अंत यह सत्य सिद्धांत है।
कितने अधीश्वर हुए हैं आर्यभूमि के
पर आर्यभूमि, आर्य जाति चिरजीवी है।
किंतु यह संकट है राष्ट्र पर, आर्यता
आज हुई आहत अनार्यों के प्रहार से।
चिंता नहीं कोई छत्र धारण करे यहाँ
किंतु वह आर्य हो—विनय यह मेरी है।
आज देखती हूँ बर्बर आर्यभूमि को
रौंदकर नाश करने को बढ़े आते हैं,
धर्म हुआ आज पददलित अधर्म से।
आप निर्धारण करेंगे जिस नीति का
होगी मान्य मेरे लिये—मैं तो इस देश की
एक तुच्छ दासी हूँ—कृपाश्रिता हूँ राष्ट्र की!
आप अब सोचिये—विचार यह मेरे हैं।"
बोला वृद्ध मंत्री घोर धीर-वीर वाणी में—
"आप हैं अधीश्वरी समस्त आर्य देश की
शिव शव हो गये तथापि विश्वजननी
शक्ति है प्रकाशमान आपके स्वरूप में।
आज्ञा शिरोधार्य है—सपथ हम खाते हैं
छूके तलवार आज पूर्ण राजभक्ति की।"
खींच लिया खंग मंत्रियों ने उष्णीष से
सादर छुला के फिर ओज भरे स्वर में
बोले वे—"महान् भारतेश्वरी की जय हो",

जयघोष गूँजा जब दुर्ग में तो दुर्ग ने
जयघोष करके दिशाओं को हिला दिया।
सुन जयनाद महादुर्ग का नगर में
कौंध गयी बिजली, विषाद-तम सहसा
दूर हुआ—जाग गयी दिल्ली महानिद्रा से।
लाख-लाख सम्मिलित कंठों से निकलके
घोर घनघोष-सा, प्रलय-झंझावात-सा
रुद्र-जयघोष चला आगे बढ़ता हुआ।
देखते ही देखते समस्त आर्यभूमि का
अणु-अणु गूँज उठा— जैजैकार नाद से।
चौंका जयचंद सुन जय-घोष स्वप्न में
काँप उठा समझ चुनौती दुर्भाग्य की।
उठकर दैव को मनाने लगा भीत हो
घनघोष समझ मयूर लगे कूकने,
समझा गजेंद्र ने दहाड़ मृगराज की।
सागर ने समझी प्रभंजन की गर्जना,
पर्वतों ने समझी कड़क महावज्र की।
गंगाधर चौंके, जय-घोष को समझके
गंगा आ रही है ब्रह्मलोक से गरजती!
शांति पायी देश ने, सनाथ जान निज को,
लौट आया पौरुष हताश आर्य जाति का
लौट आयी लाली आर्य-वीरों के नयन में।
लौट आया पानी फिर आर्य-तलवार में
लौट आयी उष्णता शिथिल रग-रग में।

लौट आया ओज फिर ठंढे पड़े रक्त में
लौट आयी फिर अरिमर्दन की वीरता
वीर आर्यपुत्रों के प्रचंड भुजदंड में।

बोली भारतेश्वरी—"है धन्यवाद सबको,
राज यह आपका धरोहर है जिसकी
रक्षा मैं करूँगी प्राण देकर सदैव ही।
राजा है निमित्तमात्र—यह आर्य-नीति है,
शासक प्रकृत तो प्रजा है किसी राज्य का।
जो हो, एक पत्र लिख राजा जयचंद को
कर दें सचेत—हम शत्रुओं से पूर्व ही
चाहते हैं नाश कर देना देशद्रोही का।
संधि का तो प्रश्न उठता ही नहीं—सोच लें,
देशद्रोहियों से संधि ?—यह आत्मघात है !
चुप बैठ जाना द्रोहियों से संधि करके,
आँगन में सोना है लगाके आग घर में।
आयी हुई आपदा से अहित भयावना
करता विपत्ति-भय शक्ति-ह्रास करके।
गोरी है विदेशी—लूटपाट कर भागेगा,
किंतु यह सर्प जो छिपा है निज घर में,
घातक विशेष है विपिनवाले व्याघ्र से।
निर्भय प्रथम हो लें गुप्त हत्यारों से,
तब नाश कीजिये प्रकट घोर शत्रु का।"
बोला कवि चंद—"जय भारत-अधीश्वरी !

उचित विचार है स्वयम् इस दास ने
सोचा था निवेदन करूँगा कभी आप से।
आज्ञा यदि होगी पत्रवाहक के रूप में
जाऊँगा स्वयम् ही"—कहा यों सम्राज्ञी ने—
"कवि, आप पत्र लिखें और महामंत्री से
ले लें परामर्श फिर राजदूत-पद ले
जायें आप"—यह तो सुगंध मिली सोना को।

× × ×

रात शेष हो गयी, उमंग भरे मन में
आयी उषा नाचती लुटाती कोष सोना का।
चाँदी रम्य चंद्रमा लुटाता चला हँसता
और निशारानी मोदपूरिता मनोहरा
सीपज लुटाती चली अंजली में भरके।
त्रिविध समीर आया सौरभ बिखेरता
पच्छियों ने गीत और गीतों ने मधुरिमा
अपनी लुटाई—धन्य-धन्य किया निज को
और निज महिमा लुटाके तम लज्जा से,
भाग छिपा कायरों के मन में हताश हो।

× × ×

बरस रही है शशि-संभवा विभा वहाँ,
मानो चूर-चूर हो नीहारिका गगन से,
बरस रही है रश्मियों का रूप धर के।
बैठा जयचंद है उदास और म्लान-सा
देखता है चुपचाप अनिमेष दृष्टि से

शांत सरिता की नील ज्योत्स्ना-स्नात धाराएँ।
जान पड़ती थीं मानो विगलित चंद्रिका,
सिप्रा के प्रवाह मिस जा रही हैं बहती।
दूर-दूर मंत्री मंत्र-मुग्ध बने बैठे हैं,
चिंतामग्न—त्रिविध समीर के झकोरों में
फूले हुए फूलों की महक है भरी हुई।
कवि चंद बैठा है प्रशांत गिरिवर-सा,
उन्नत प्रासाद पर गोपनसी[1] दिव्य है,
दूरस्थित बन की यों रेखा दिखलाती है
मानों नील अम्बर में असित किनारी हो।
गंधपूर्ण तैलवाले दीपों का प्रकाश है
सिर धुनती है शिखा वायु के झकोरों में।
त्याग दीर्घ श्वास जयचंद कहने लगा—
—"कविवर, आप अब पत्र महारानी का
पढ़ के सुना दें"—उठकर कवि चंद ने
सादर झुकाया सिर फिर दिव्य खाम से
पत्र किया बाहर लगाके उसे सीस से
कहने लगा यों—"महाराज ध्यान दीजिये।"
होके उद्ग्रीव बैठे, जो-जो वहाँ बैठे थे,
कवि-कंठ गूँज उठा स्वाति-मेघ-मंद्र-सा,
चातक-से तृषित उपस्थित जो थे वहाँ
एक-एक बूँदवत् एक-एक शब्द को
लालायित हो के हृदयस्थ करने लगे।

---

[1] गोपनसी = छज्जा, बरामदा।

पत्र संक्षिप्त था कटार-सा, जो वेग से
फाड़ पंजरों को घुस जाता है हृदय में।
पत्र में लिखा था—"आर्य-जननी की जय हो,
आप जानते हैं सब वृत्त आर्यभूमि का
आप ही पुरोहित थे इस नाश-यज्ञ के।
आप बने सूत्रधार प्रेरित हो ईर्ष्या से
इस तुच्छ नाटक का—आप आर्य-पुत्र हैं,
फिर भी अनार्यों को बढ़ावा दिया आपने
रौंदने में आर्य-जननी को—महाशोक है।
पातक अनेक हैं भयानक तथापि यह
देशद्रोह ऐसा घोर पाप है कि जिससे
काँपता है नरक—अधीरा धरा होती है।
देशद्रोहियों को अधिकार है न जीने का,
इनसे घिनाता है मरण भी इसीलिये
अब तक घृणित शरीर यह आपका
जीवित है, जीवित पिशाचवत्—खेद है!
आपने कलंक-कालिमा को निज इच्छा से
सिर पर लादा है परंतु हमें आशा है,
अब भी विरत होंगे आप नीच कर्म से।
भूलें मत स्वप्न में भी इस कटु सत्य को
भारत-अधीश्वर हैं सोये महानिद्रा में,
किंतु तलवार अभी जागती है उनकी,
और वैसा ही कड़ा पानी है चढ़ा हुआ।
पूछती नहीं है यह प्रश्न 'संयोगिता'

पूछती है भारत-अधीश्वरी--क्या इच्छा है ।"
उस दीन श्येन-सी दशा थी जयचंद की
जो हो घिरा धूलि भरी अंधाधुंध आँधी से,
अस्तव्यस्त पंख हो गये हों और आँखों में
धूलि हो भरी हुई, झकोरे उसपर हों
उस शाखा के जिसपर वह बैठा हो ।
पत्र हुआ शेष कवि-स्वर रुका सहसा
चौंका जयचंद मानों नींद के हिलोरे से,
कोई चौंक जाय--छायी चारों ओर गहरी
घोर निस्तब्धता, अवाक् बने सब थे ।
कोयल की कूक आ रही थी दूर-दूर से,
करुण कराह-सी, हवा में लिपटी हुई ।
सुन पड़ता था चकई के श्रांत कंठ का
करुण विलाप सरिता के उस पार से ।
कवि चंद पोंछ के पसीना निज भाल का
दीर्घ श्वास छोड़—पत्र रखकर खाम में
बोला—"महाराज, यह पत्र स्वीकार हो ।"
पत्र लिया जब जयचंद ने तो उसका
काँप गया हाथ और धड़का हृदय भी ।
बोला साश्रु नयन महीप श्रांत स्वर में,
"कविवर, सत्य है लिखा जो महारानी ने ।
निश्चय ही मैंने किये निंद्य कर्म ईर्ष्या से,
निश्चय ही मैंने किया नाश आर्यभूमि का ।
निश्चय ही मातृभूमि आज पदाक्रांता है,

निश्चय ही डूबा देश मेरे घोर पाप से,
निश्चय ही आर्य जाति आज पराधीना है,
निश्चय ही मैंने जो लगायी आग घर में,
आज वह फैली सब ओर नाश बन के,
चूमती हैं जिसकी शिखाएँ दिविलोक को ।
संभव नहीं है नयनों के स्वल्प जल से
इस प्रलयाग्नि को बुझाना, शांत करना ।
जानता हूँ कल इतिहास लिखा जायगा
जब आर्यभूमि का, तो मेरे इस कृत्य का
वर्णन रहेगा वहाँ और उसे पढ़के
युग-युग पाठक घृणा से धिक्कारेंगे ।
इस भाँति मैंने आर्य हो के भी स्वदेश का
चिर-संचित सुख-गौरव मिटा दिया ।
अब तो नहीं है पछताने का समय भी,
कविवर आप कहें जाके महारानी से,
दिल्लीपति बंदी हैं परंतु हाय शत्रु ने
आँखें फोड़ उनकी अनर्थ कर डाला है ।"
चौंककर चीख उठा चंद हर्ष-शोक से
"आर्यपति जीवित हैं ? अब तक जीते हैं ?
देखा है स्वयम् महाराज को या आपने
यह संवाद सुना और किसी सूत्र से ?"
वाष्परुद्ध कंठ से महीप कहने लगा—
"हाय दुर्भाग्य, इन्हीं आँखों से विलोका है
मैंने आर्यपति को गँवाते नेत्र अपने ।

किंतु निरुपाय था बँधा था पाप-पाश में
गोरी का गुलाम मैं बना था हतचेत था।
आर्यता गँवाके मैं सदेह प्रेतवत् था।
करता विरोध किस भाँति तलवार से ?
लज्जा अब आती है कहूँ मैं किस मुँह से
मैं हूँ पिता रानी संयोगिता का और वह
मेरी प्रिय पुत्री है—तथापि आप सुनिये।
बोलता नहीं है कन्नौजपति आप से,
अब बोलता है पितृहृदय अधीर हो,
मैंने जिस पाप-कालिमा को निज मुख में
ईर्ष्या से लगाया था उसे मैं निज रक्त से
अब धोता हूँ—विश्व देखे आँख खोलके।
कह दें कवींद्र, आप जाके महारानी से
देशद्रोही जयचंद भस्मीभूत हो गया।
आर्य जयचंद अब प्रकट हुआ यहाँ
नंगी तलवार लिये—जब तक देश की,
बेड़ियाँ कटेंगी नहीं तब तक प्रण है,
रक्खेगा न भूलके कृपाण वह म्यान में।"
राजा हुआ मौन, कविचंद महानंद से
बोला—"जय आर्यभूमि जै हो महाराज की।"

× × ×

मन पर लादे भार दुख और सुख का
कवि चंद छूटे हुए बाण-जैसा वेग से
हस्तिनापुरी की ओर लौटा, मन उसका

आगे दौड़ता था, कवि पीछे रह जाता था ।
साथ में शताधिक सिपाही शस्त्रधारी थे;
झंझागति अश्व, जा रहे थे घोर झंझा-से ।
चंद ने निहारा राजधानी को चकित हो
परिणत हो गयी है सैनिक शिविर में ।
निज पति-पुत्रों को सजा के वीर-वेश में,
करती विदा हैं, आर्यनारियाँ उछाह से ।
रोते हैं जरठ और रोगी सिर पीटके,
कैसे सुन डमरू-निनाद फणी बाँबी में
बैठा रहे—कैसे सुन गर्जना गयंद की,
बैठे मृगराज चुप अपनी कछार में ?
होके वीर मदमत्त नागरिक अस्त्र ले
घूमते हैं ज्वालामय रोष भरे मन में
ध्वनि गूँजती है सब ओर 'मार-मार' की
खौल उठता है खून रण-वाद्य सुनके
आज्ञा की प्रतीक्षा में अधीर आर्यवीर हैं ।
बाहर नगर के असंख्य अश्व-गज हैं,
संख्यातीत शिविर खड़े हैं आर्य-सेना के
चारों ओर—बीच में महान् आर्यध्वज है
उच्च स्वर्णदंड पर विजय-प्रतीक-सा ।
आये हैं मगधराज, अंगराज, बंगराज
शासक भी आये हैं विदर्भ, पांचाल के ।
इस भाँति मांडलिक जितने नरेश हैं
सेना साज आये भारतेश्वरी की आज्ञा से ।

सारा आर्य-देश आज नीचे आर्यध्वज के
उद्यत है मर-मिटने को, एक साथ ही,
सीस ले हथेली पर, भेद-भाव भूलके ।
यह दृश्य देखा कवि चंद ने तो उसकी
फड़कीं भुजाएँ, कड़ी तड़की कवच की ।
उल्लसित होके कूद अश्व से कवींद्र ने
खींची तलवार फिर सैनिक-विधान से
वंदना की वीर ने पवित्र आर्यध्वज की ।
खोजती थीं आँखें हो विकल कविवर की
धीर आर्यपति को महान् योद्धा कन्ह को
और श्री समरसी कृतांत-जैसे वीर को ।
काँटा-सा खटकता अभाव था हृदय में ;
कौन है समर्थ जो अतीत को पकड़के ;
बाँधे वर्तमान के क्षणिक तुच्छ पाश में ।

अष्टम सर्ग

उतरी धरा के शांत आँगन में रजनी
कृष्णाभिसारिका-सी आँचल सँभालती।
शांत थीं दिशाएँ और नीरव समीर था
मानों जग डूब गया तम के समुद्र में।
दीख पड़ते थे महिधर यमराज के
काले भैंसे हों खड़े—प्रेतवत् वृक्ष थे।
गूँज उठता था रुक्ष स्वर उल्लूक का
दूसरा प्रहर था—भयानक समय था।
एक अश्वारोही जा रहा था व्यग्र भीत-सा
उस पथ पर जो गया था घोर वन को
पार कर गोरी के शिविर तक—पथिक ने
चारों ओर देखके कराहा आह भरके।
अश्व चाहता था नहीं चलना तनिक भी
किंतु वार-बार खाके कोड़े बड़े कष्ट से
आगे बढ़ता था और फिर रुक जाता था।

भूखा और प्यासा था—थका था—अर्द्धमृत था
अश्व की दशा थी दयनीय प्राण उसके
आकुल थे, छोड़ जाने को इस कष्ट में।
घोड़े से अधिक ही पथिक क्षीण-क्लांत था
कंठ सूखता था और साँस रुकी जाती थी।
बार-बार होंठ चाटता था हतचेत हो
मानों खोजता हो वह अमृत अधर में।
बार-बार पोंछता पसीना था ललाट का
बार-बार देखता था जगमग तारों को
और अनुमान करता था—क्या समय है।
कितनी गयी है रात और अभी कितना
पथ करना है शेष दुर्गम विपिन में।
कुछ दूर आगे बढ़ा पथिक विकल-सा
सुन पड़ी हाँक गूँजती-सी शांत वन में,
फाड़ निस्तब्धता का हृदय भयावना।
रक्षा करते थे घूम प्रहरी शिविर की
सेना का पड़ाव है निकट ही पड़ा हुआ।
संचय कर साहस हृदय में पथिक यों
कंधा ठोंक श्रांत घोड़े को चुमकारता
बोला—"धन्यवाद है तुम्हें भी, अब जीवित
पहुँच गया मैं सुल्तान तक, जिसकी
मेरे श्रांत मन को तनिक भी न आशा थी।
आह कंठ सूखता है, सिर चकराता है
जीवन की रेखा अब क्षीण हुई जाती है।

तेल शेष हो गया था, रात अभी बाकी है,
कब तक तम से लड़ेगी लघु दीप की
छोटी-सी तुनुक हाय बत्ती जल-जल के ।
सीमाहीन आशा है, असीम यह विश्व है
किंतु यह जीवन घिरा है लघु रेखा में ।
आगे बढ़ो—आगे बढ़ो आशा की पुकार है
किंतु काल कहता है रुककर देख लो
मेरी ओर—भूलो मत मैं ही खरा साथी हूँ ।
खींचती है आशा बाँध शत-शत पाश में
पीछे खींचता है अंत प्राणों को पकड़के ।
इस भाँति मानव का जीवन दुरुह है
आगे और पीछे के समान आकर्षण
बीच में ही जीवन को चूर किये डालते
रुकना असंभव है और लौट जाना भी
हाय ! है कठिन पथ इस मर्त्यलोक का ।”
एक बार फिर से पसीना पोंछ मुख का
दीर्घ श्वास त्यागकर विजन विपिन में
आगे बढ़ा पथिक कराहता—बिलखता ।
शीतल बयार आ रही थी इठलाती-सी
रजनी भरी थी वन-जूही की महक से ।
झिल्ली-रव गूँजता था नूपुर-निनाद-सा
मानों नाचती हो निशा होके मतवाली-सी
दिन की जलाके चिता शून्य मरघट में ।
यह घोरतर नृत्य रोके साँस अपनी

देखते थे पादप अवाक्-से खड़े-खड़े ।
एक-एक ताल पर पत्ते काँप जाते थे
रोती थी हवा भी छिप बाँसों के निकुंज में ।
नीचे अंधकार था परंतु शून्य नभ में
जगमग तारों का प्रकाश था लुभावना
मानों स्वर्ग-पथ के पथिक चले जाते हों
लेकर प्रदीप चुपचाप वीतराग हो ।
आगे बढ़ा पथिक परंतु देह उसकी
मूर्च्छित हो चाहती थी गिरना—सँभल के
घोड़ा चलता था किसी भाँति रुकता हुआ
अंतिम समय उपस्थित था पथिक का
और अश्व की भी शेष साँस गिनी जाती थीं ।
इस भाँति साहस की डोर पकड़े हुए
पहुँचा पथिक वह निकट शिविर के ।
घोड़ा गिरा और गिरा स्वयं अचेत हो
दौड़कर प्रहरी ने हाथोंहाथ यत्न से
उसको उठाया—मरा अश्व क्षणमात्र में ।
जीवित था पथिक तथापि उस वीर का
आ गया था अंतिम समय क्षुधा-प्यास से ।
आ गये हकीम फिर यत्न-उपचार से
जागा वह पथिक कराह बोला—"भाइयो !
शीघ्र मुझे दर्शन करा दो सुलतान के ।
होगी यदि देर तो भयानक अनर्थ का
होगा सूत्रपात—सावधान किये देता हूँ,

याद रहे मैं हूँ गुप्तचर और आया हूँ
हस्तिनापुरी से कुछ गुप्त संवाद ले।"

× × ×

मदमत्त बैठा है यवनपति मोद में
दौर पर दौर चलते हैं—गायिकाएँ भी
पीके उन्मत्त हैं, पड़े हैं विखरे हुए
मुरली, ख्वाव—हतचेत बने सब हैं।
राजमद, तीव्र मदिरा का मद उसपर
भीषण विजय-मद—मिलकर तीनों ने
गोरी की समस्त चेतना को एक साथ ही
घेरकर अंधी और पंगु बना डाला है।
आया इतने में एक प्रहरी डरा हुआ
करके सलाम वह बोला भीत वाणी में—
"आया एक गुप्तचर गुप्त संवाद ले
चाहता है करना निवेदन इसी घड़ी
वह मृतप्राय है असंभव है जीना
जैसा हो निदेश वादशाह का"—श्रवण कर
यह संवाद फेंक जाम निज कर से
गोरी उठा झूमता सहारा दिया बढ़के
उस प्रहरी ने—डगमग पग धरता
वाहर शिविर के निकल आया व्यग्र-सा
शत-शत तीव्र उल्काओं का प्रकाश था
गुप्तचर भूमि पर चुप था पड़ा हुआ।
कुशल हकीम उपचार में निमग्न थे।

कुछ क्षण बाद जब लौट आयी चेतना
देख बादशाह को कहा यों उस वीर ने—
"जीवन सफल हुआ, धन्यवाद प्रभु को,
उठ सकता मैं नहीं आप क्षमा कर दें।
याद नहीं कैसे मैं सुदूर पथ पार कर
आया चरणों में यह लीला है कृपालु की।
शक्ति नहीं और बोलूँ मैं आप ध्यान दें !
सुन लें करूँगा जो निवेदन, कृपानिधे !
प्राण चाहते हैं त्याग देना इस देह को।"
सुनिये,—कहा यों गुप्तचर ने कराह के—
"आ रहा हूँ दिल्ली से वहाँ का कुछ और ही
देखा-सुना हाल मैंने—तोते उड़े हाथ के।
राजा जितने हैं बड़े-छोटे इस देश के
आज एक होके मन-प्राण और देह से
उद्यत हैं जूझने को आपसे—निहारी हैं
मैंने इन्हीं आँखों से असंख्य आर्य-सेनाएँ
आ रही हैं दिल्ली-ओर, और जयचंद ने
भेजा है संदेशा कवि चंद से कि वह भी
देगा साथ अब भारतेश्वरी का युद्ध में।
दिल्लीपति और आपसे ही पूर्व युद्ध था
विजय मिली थी—जयचंद बना द्रोही था
अब प्रलयंकर समर होगा आपसे
और आर्य देश का—अधीर बना आया हूँ
देने संवाद—मुक्ति पायी आज मैंने

इस गुरु भार से—हृदय हुआ हलका
दुःख यही मन में रहेगा दुर्भाग्य से
आज मरता हूँ काफिरों के इस देश में ।
लायी मृत्यु खींच मुझे दूर मातृभूमि से
हाय ! दूर देश में—बना था जिस मिट्टी से
उस मिट्टी में मिल जाता तो हृदय की
पीड़ा दूर होती किंतु विधिगति वाम है ।
पर संतोष है कि जिस भूमि पर मैं
दम तोड़ता हूँ वह मेरे सुलतान की
जूतियों के नीचे है—इसी का मुझे सुख है
देखता हूँ सामने पताका निज राष्ट्र की
यह उड़ती है और देशबंधु अपने
सामने खड़े हैं—प्रभु सत्य का प्रकाश दो
आगे बढ़ूँ जय हो सुल्तान की—स्वदेव की ।”
मौन हुआ गुप्तचर,गोरी सन्न हो गया
दूर हुई मादकता आयी दीप्त चेतना ।
व्याकुल अधीर हुए जो-जो थे खड़े वहाँ
एक दूसरे का मुँह देखते थे भीत हो ।
सबके हृदय में भरा प्रश्न था, न कोई भी
जानता था उत्तर का रूप—दशा ऐसी थी ।
झुककर साँसों की परीक्षा की हकीम ने,
कार्य-भार और निज जीवन के भार को
दूर फेंक डाला था चतुर गुप्तचर ने ।
त्याग दीर्घ श्वास कहा गोरी ने—“इसी घड़ी

सैनिक-सम्मान से दफ़न इसे कर दो।
ऐसे कितने हैं महाभाग इस लोक में
पायी है जिन्होंने मृत्यु इस देशभक्त-सी ?
विजय मिलेगी पर इसका अभाव तो
काँटा-सा खटकता रहेगा मन-प्राण में।
काँच और पत्थरों को रत्न हम कह लें
और इन्हें प्राप्त करना भी तो सहज है;
पर गुदड़ी के ये अमूल्य लाल राष्ट्र के
मूल धन माने गये—आज मैं दरिद्र हूँ,
लुट गया मेरा नर-रत्न दूर देश में,
खोयी गयी राष्ट्र की अमूल्य निधि धोखे में।"

× × ×

सेनापति बैठे हैं अधीर-से बने हुए
बोला कुछ सोचकर गोरी खिन्न स्वर में—
"आप भेज दीजिये तुरंत दिल्लीपति को
गजनी, विलंब होगा घातक, इधर हम
प्रस्तुत हों बाँधके क़फ़न निज शीश में
मर-मिटने को यह मंजिल है आखिरी,
कौन जानता है परिणाम इस युद्ध का।
बीत गया जीवन हमारा युद्ध-क्षेत्र में
जानते नहीं हैं सुख घर का न राज्य का।
दिन भर युद्ध और स्वप्न में भी रात को
मैं तो सुनता हूँ मार-मार की पुकार ही।
जयचंद कायर है, होती यदि उस में

वीरता तो बढ़कर साथ देता देश का ।
फोड़ी गयी आँखें महाराज पृथ्वीराज की
उसके समक्ष ही परंतु उस नीच ने
देखा यह दृश्य, नहीं खौला खून उसका ।
यदि चाहता तो वहीं अपने कृपाण से
शीश काट लेता वह मेरा तत्काल ही ।
बैठा था बगल में, परंतु प्राण-भय से
कातर बना था, उस तुच्छ जयचंद का
क्या है भय, आवे वह सामने समर में ।
आप जानते हैं, आत्मबल सभी क्षेत्र में
विजयी बनाता है, परंतु जयचंद का
नाश हुआ आत्मबल वह देशद्रोही है ।
हाँ, मैं डरता हूँ महारानी के प्रभाव से,
देखते ही देखते समस्त आर्य देश का
संगठन करके कमाल किया उसने ।
पृथ्वीराज विफल हुए थे इस यत्न में,
सिहिंनी भयानक दिखाई पड़ी सिंह से ।
धन्य हुआ मैं तो महावीर पृथ्वीराज को
पाके शत्रु-रूप में भी—भेजें उन्हें गजनी,
भारत की वीरता का उज्ज्वल नमूना है ।
मैंने यह सत्य सीखा पूर्वजों की चाल से
वीरता की पूजा भगवान की ही पूजा है ।"

× × ×

सामने ही गोरी के शिविर के भयावना

एक है शिविर, शत-शत रणबाँकुरे
रात-दिन घूमते हैं चारों ओर अस्त्र ले।
पींजड़ा है लोहे का डरावना शिविर के
भीतर—हैं दिल्लीपति उस लौह-पाश में
बंद, सीकड़ों से बँधे, विवश बने हुए।
बेड़ियाँ हैं पैरों में, बँधे हैं हाथ उनके
पीठ पर और लौहशृंखला है कटि में
कसके बँधी हुई—बँधा है छोर उसका
सामने के वृक्ष से—भयानक सतर्कता,
मानों उन्मत्त करिराज हो बँधा हुआ।
आधी रात हो रही है उल्का लिए कर में
आये अस्त्रधारी साथ-साथ सुलतान के।
बैठे हैं नरेंद्र सूखी घास है बिछी हुई,
बोला वीर गोरी—“महाराज, क्षमा कीजिये
कष्ट दिया आपको, विचार यह मेरा है
भेजूँ गजनी मैं महाराज को इसी घड़ी,
देखता हूँ कष्ट है विशेष यहाँ आपको।”
पल भर में ही गुर्राता हुआ रोष में
पीसकर दाँत वीर-केशरी खड़ा हुआ।
झनझन शब्द हुआ सीकड़ों का पिंजड़ा,
ऐसा हिला मानों धराशायी हुआ चाहता।
कूदकर गोरी हटा पीछे और प्रहरी
भयभीत होके लगे काँपने—दहाड़के
बोला आर्यवीर—“यह तीसरा प्रहार है।

बंदी किया, अंधा किया किंतु यही तोष था
मैं हूँ मातृभूमि की ही स्नेहमयी गोद में।
अब भेजते हो मुझे बाहर स्वदेश के,
गोरी, सिर काट लो इसी दम खड़े-खड़े
किंतु मुझे दूर मत भेजो आर्य-भूमि से।
आज तक मैंने दया की है—पर जान लो,
त्रिभुवननाथ से भी मैंने कभी भूलके
माँगी नहीं भीख करुणा की इस जन्म में,
कटकर शीश गिरे यह स्वीकार है।
शीश का झुकाना नहीं सह्य होगा आर्य को।
माँगता हूँ मैं ही दयादान," कहा गोरी ने
—"भेजना ही होगा मुझे आपको इसी घड़ी
कुछ भी छिपा है नहीं घट-घटवासी से,
पूजक हूँ वीर का मैं—आप महावीर हैं।
धन्य है स्वदेश-भक्ति आपके हृदय में
किंतु निरुपाय हूँ—क्षमा का अधिकारी हूँ।"
चुप हुआ गोरी वाष्परुद्ध कंठ हो गया;
बोले महाराज—"एक बात वीर मानोगे,
सीमा हो समाप्त जहाँ मेरी मातृभूमि की
कह दें मुझे वे मैं तनिक उस भूमि की
मिट्टी चूम लूँगा बस, इतनी विनय है।
अंधा हूँ, सकूँगा नहीं देख मातृमूर्त्ति मैं।"
गोरी फिर बोला—"कर्त्तव्यवश आपको
मैंने यह पीड़ा दी—हटाया मातृभूमि से,

भूलूँगा नहीं मैं, यह आज्ञा शिरोधार्य है।"
'चिंता नहीं'—बोले महाराज धीर वाणी में
—"यह वीर-धर्म है—मुझे भी है प्रसन्नता
हारा किंतु वीर से ही सम्मुख समर में।
आर्य करते हैं सदा पूजा वीर-धर्म की,
यदि हार जाता देशद्रोही जयचंद से
कैसी गति होती—हाय मेरे मन-प्राण की।"
'अच्छा विदा दीजिये'—कहा यों सुलतान ने
दिल्लीपति बोले—"वीर, रौंदो निश्चिंत हो
इस आर्यभूमि को, परंतु यह सोच लो
खेलना बुरा है—बैठ तिनकों के घर में
ज्वाला सर्वग्रासिनी से—खाक कर डालेगी।"
गोरी ने कहा यों शांत—धीर-वीर वाणी में
—"भाग्य से ही मृत्यु मिलती है रणभूमि में
घोंसले में बिजली छिपाके मैं प्रसन्न हूँ।"

नवम सर्ग

जैसे, घोर भूधर से, घोर नभोदेश को
उमड़ चले हैं मेघ भादो के भयावने,
दिन और रात का न भेद रह जाता है,
कौंधती है चपला विदीर्ण कर तम को,
मानो महिषासुर के फाड़के हृदय को,
घोर धारवाली तलवार कौंधी काली की।
काँपती धरा है बार-बार चलदल-सी,
गूँजता है असनिनिनाद साथ झंझा के।
भीत खग, भीत वन्यपशु भीत जग के
जीवधारी—विश्व है विकल प्राण-भय से।
ठीक इसी भाँति आर्य-सेना रणमत्त हो
जा रही है उमड़ी—दिशाएँ महाव्यग्र हैं।
धौंसे की धुकार, गज-घंटों के निनाद से
कान पर हाथ रख विधना विकल हैं।
भूमि से गगन तक धूलि है भरी हुई,
रात को भी तारे दिखलाते नहीं—भय से
मानो बंद करके गवाक्ष निज गेह के,

दिविलोकवासी हैं सभीत मग्न चिंता में।
गतिमान भूधर-से भीषण गयंद हैं,
मुद्गर भयानक सुसुंड में लिये हुए,
आच्छादित वर्म से—सदेह कालमूर्ति ज्यों,
मानो हों जहाज ये अनंत रण-सिंधु के।
वायुगति अश्व हैं, ढँके हैं लौह-जाल से
चामीकर-मंडित हैं स्यंदन लुभावने।
बैठे हैं सुरथि भीम-धन्वा लिये कर में
पहरे सनाह; और कितने पदाति हैं
गिनना असंभव है उस महासेना का।
साथ जा रहे हैं महिपाल देश-देश के
सेना लिए—भूलकर भेद-भाव मन से।
मानो देव-सेना चली देवासुर-रण में,
रथ पर राजती हैं भारत अधीश्वरी
रत्नमय सोने का किरीट—अंशुमाली-सा
करता प्रकाश है विकीर्ण रंग-रंग का;
मानो इन्द्रचाप घेरकर पूर्ण शशि को
करता विभूषित है—अथवा स्वयम् ही
होता है विभूषित कलाधर की शोभा से।
मूर्तिमान शोभा को मंडन क्या चाहिये ?
अष्टधातु-निर्मित सतारु अंग-अंग में
रानी के सुशोभित हैं—मानो गिरिनंदिनी
असुर विदारिणी का लेके रूप रोष में,
जा रही है खेलने रणांगन में तारिणी!

फूल बन जाता है भयानक त्रिशूल-सा,
बन जाती है सुधा घोर हलाहल-सी,
संभव है सब कुछ परिस्थिति के फेर में ।
जिन अंगों में फूल पीड़ा पहुँचाते थे,
और गड़ जाती थीं पगों में भी पंखुरियाँ,
दुर्वह था भार अंगों के लिये शोभा का,
आज वही रानी संयोगिता कृपाण ले
कूदने को प्रस्तुत है ज्वालामय युद्ध में ।
सिरिस-सुमन भी समर्थ हुआ सहसा
चूर कर डालने को वज्र-तुल्य हीरा को ।
जल मथने से बिजली की उग्र धाराएँ
होती हैं प्रकट—यह सीधी-सही बात है ।

अश्वारूढ़ कवि चंद दाहिनी तरफ़ है,
बायीं ओर गज पर राजा जयचंद हैं,
बीच में है रथ भारतेश्वरी का—जितने
राजा हैं महान् आर्य देश के, वे अस्त्र ले,
जा रहे हैं साथ अंगरक्षक-से रानी के ।
मानो वीरभद्र और हिमवान जाते हों,
साथ गिरिनंदिनी के और देव-सेना के
नायकों का यूथ भी चला हो साथ-साथ ही !
भेंट करते हैं वृक्ष फूल-फल मोद में
वीर आर्य सेना को—वसुंधरा हुलास से
जीवन का दान करती है जल-धारा में ।

शीतल-सुगंध-मंद बैहर सुधा भरी
पथ-श्रम दूर पल में ही कर देती है ।
मेघ करते हैं स्निग्ध छाँह मनभावनी,
संख्यातीत आर्यवीर वीरमदमत्त हो,
जा रहे हैं खोई हुई अपनी स्वतंत्रता,
प्राप्त करने को फिर—बाजी लगा प्राण के ।

त्यागकर मृत्युभय मृत्युंजय बनके
संभव है पाना अमरत्व मृत्युलोक में ।
सिर ले हथेली पर कोई महाकाल को
कर सकता है ध्वस्त सम्मुख समर में ।
जिसने न माना कभी लोहा तुच्छ मृत्यु का
जीने का वही तो अधिकारी है जगत् में ।
भाग्यफल भोगने को जड़वत् वृक्ष-सा
इच्छाहीन, कर्महीन जीना धिक्कार है ।

पाया संवाद वह, दौड़ा, फिर उसने
गोरी को सुनाई इतिवृत्ति आर्य-सेना की ।
स्तम्भित यवनपति, मूक सेनापति हैं,
एक दूसरे का मुँह देखते हैं व्यग्र हो ।
रुद्ध हैं समस्त मार्ग देश लौट जाने के,
मृत्यु-पथ केवल है मुक्त एक सामने।
घिर गया औचक ही गोरी महानाश से ;
भड़की दवाग्नि मानो चारों ओर वन के

बीच में घिरा हो वनराज—ऐसी गति थी।
जिस ओर दृष्टि जाती अम्बर को छूती-सी,
लाल-लाल लपटें हुताशन की नाचतीं
दीख पड़ती हों—हाय, आँखें झुलसाती हैं।
तांडव चतुर्दिक हो जब महानाश का
निश्चित है मरण—हताश प्राण होते हैं,
बन जाता है तब मानव कृतांत-सा।
संभव नहीं है वेग उसका सँभालना,
आशाहीन व्यक्ति दुर्दांत बन जाता है।
बोला महामानी सुलतान—"आज हम हैं
मुष्ठिमेय तृणवत् दोजख की आग में।
चिंता नहीं भस्मीभूत होने की हृदय में,
जीवन में आता है मरण एक बार ही;
चाहे वह आवे आज, किंवा सौ वर्ष में,
निश्चित है आना, फिर चिंता-शोक व्यर्थ है।
आज जूझना है हमें सारे आर्य-देश से,
आज जूझना है हमें काल से दहाड़के
आज जूझना है हमें अंतिम समर में,
जौहर दिखाना है हमें भी तलवार का।"
बोला वीर सेनापति—"हम दृढ़व्रत हैं
जूझने में काफिरों से सम्मुख समर में,
चाहे वे हजार हों, करोड़ हों, असंख्य हों।
चिंता नहीं, फाड़ती है जिस भाँति मेघ को
छोटी-सी तड़िता तड़पके कड़कके;

फाड़ हम देंगे इस काल-तुल्य मेघ को
इस तलवार से—दिखा देंगे जगत को
कैसा कड़ा पानी है हमारी तलवार का।"
आया एक प्रहरी कहा यों उस वीर ने
—"एक दूत आया है, सँदेशा लिये रानी का
सेवक खड़ा है प्रभो, आज्ञा इसे दीजिये।"
"भेजो यहाँ सादर"—कहा यों सुलतान ने—
"दूत है अवध्य, वह आदर का पात्र है।"

आया आर्य-दूत मानो मूर्तिमान ओज हो,
शांत पर तेजोमय, श्वेत वस्त्र पहने
देखकर चारों ओर ज्वालामयी दृष्टि से
बोला फिर ओज भर—"जय हो मातृभूमि की
आया यहाँ भारत-अधीश्वरी की आज्ञा से।"
बोला सुलतान—"दूत, बोलो, महारानी का
क्या है आदेश—यहाँ बोलो निर्भय हो।"
"धन्यवाद"—बोला दूत शांत-धीर स्वर में—
"भारत-अधीश्वरी का यह संदेश है,
'आप लौटा दें' महाराज दिल्लीपति को,
खुद लौट जायँ चुपचाप इस देश से।
आप तो स्वयम् ही अनागत विधाता हैं,
सोचें परिणाम इस भावी घोर युद्ध का।"
"सोच चुका"—बोला दीर्घ श्वास त्याग गोरी यों—
"सोच चुका खूब मैं फलाफल भविष्य का,

सोच चुका होगा परिणाम क्या समर का,
सोच चुका अब तो नहीं है कुछ सोचना ।
सुन लिया प्रश्न, पर कल रणभूमि में
दूँगा दूत ! उत्तर स्वयम् महारानी को ।"
"जैसी इच्छा हो"—कहा दूत ने विनय से;
और एक बार फिर उल्लसित स्वर में
जयजयकार करके स्वदेश का, विदा हुआ ।

× × ×

आयी उषा, मानो लाल चूनरी पहनके
आयी सती पति की चिता में जल जाने को ।
कतिपय तेजोमय नखत गगन में
दीख पड़ते थे शोकग्रस्त परिजन से ।
क्रमशः दीप्ति बढ़ी, मानो चिता धधकी,
भभकीं शिखाओं-सी मयूखें शून्य नभ में ;
दिनकर दीख पड़ा घोर चितानल-सा ।
इस भाँति प्रांगण में भावी नरमेध का
आ गया प्रभात—सजी सेना आर्यभूमि की
और सजी सेना शत्रुओं की हुंकारती ।
कोसों तक बीच में उजाड़ क्षेत्र फैला है,
मानो वह 'चौसर' हो भारत के भाग्य का
'गोट' हैं सिपाही और 'पाशे' अस्त्र-शस्त्र हैं
खेलने को प्रस्तुत अतीत और भावी हों ।
देखते ही देखते प्रलय-झंझावात-सी
जूझ पड़ीं सेनाएँ—धुकार सुन धौंसे की

काँपी धरा, धारा नदियों की बही उलटी।
फेनिल समुद्र रोषपूर्ण शेषनाग-सा,
फुत्कार करके दहाड़ा भीम वेग से,
काँपा पाकशासन का आसन भी स्वर्ग में।
रण की तरंगों में असंख्य गज घट-से
डूब गये—रथ और अश्वों की बिसात क्या!
विज्जुवन् कौंधते थे फलक विशिख के,
नाचता था भीषण कृपाण मानो दामिनी
नाचती हो, फाड़ प्रलयंकरी घटाओं को।
ढाल तैरती थी रक्तसागर में कुर्म-सी,
लोथ पर लोथ गिरे, हाहाकार छा गया।
गूँजता था घोर टंकार भीम धन्वा का,
सन् सन् बाण उड़ते थे नभोदेश में।
अग्नि की कणाएँ उड़तीं जब वर्म से,
टक्कर खा टूक-टूक होती तलवार थी।
शीश-बाँह कटकर दूर-दूर गिरते,
भूमि काँपती थी जब गिरते गयंद थे।
भेद था न शत्रु और मित्र का तनिक भी
होके रणमत्त वीर नाचते थे रण में,
हाहाकार छाया मार-मार की पुकार से।
रथ पर बैठी भारतेश्वरी थी रण में,
रण-चंडिका-सी, ले धनुष निज कर में।
कौन था समर्थ ऐसा वीर अरिदल में
टिक पाता जो लिये शीश एक क्षण भी।

जिस ओर आर्यध्वजयुक्त रथ रानी का
जाता था, तुरंत भगदड़ मच जाती थी।
रथ दौड़ता था शत्रुओं का शव रौंदता
भूमि पर दौड़ा नहीं स्यंदन समर में।
गज पर बैठा जयचंद था सुरेंद्र-सा,
भीषण धनुष लिये और कवि चंद था
अश्वारूढ़ मानो 'वीरभद्र' हो भयावना;
भागते थे शत्रु देख रौद्रमूर्ति कवि की।
दोनों वीर दोनों पार्श्व में थे महारानी के,
मानो मेघ, झंझा से घिरी हो तीव्र दामिनी!
आधा दिन शेष हुआ और सुलतान की,
नष्ट हुई आधी से अधिक सेना कटके।
शेष जो बची थी वह काल के चपेट में,
पड़कर अवश, विकल थी, अधीर थी।
आया तब गोरी चढ़ा गज पर सामने,
देखते ही रोष में पुकार कहा रानी ने—
—"स्वागत है वीर सुलतान, इस ओर हूँ,
देखो आँख भर के, यही तो रणभूमि है।
तुमने कहा था कल मेरे उस दूत को
उत्तर प्रदान करने को रणभूमि में।"
सादर झुकाया शीश अस्त्र रख गोरी ने
और वह बोला—"देवि, राजा जयचंद को
ढूँढ़ता हूँ—सेनापति वे ही हैं, किधर हैं?
योग्य मैं नहीं हूँ भारतेश्वरी के प्रश्न का

उत्तर प्रदान करूँ—आप क्षमा कर दें ।
आया जयचंद दाँत पीसकर रोष में
बोला—"सुलतान, इस ओर दया कीजिये ।
आपने कहा था कभी याद होगा आपको
'सारा यह देश मेरी जूतियों के नीचे है,
कौन है समर्थ इस कायरों के देश में ।
रोके जो हमारी गति'—तब विधि वाम था ।
आप की चुनौती को छिपाके मन-प्राण में,
दिन काटता था मैं प्रतीक्षा में समय की ।
आज इस योग्य हूँ कि उत्तर दे आपको
तृप्त कर दूँ मैं—अब बैठिये सँभल के ।
जग जानता है यह भारत की नीति है
दंभ का जवाब देना तीखी तलवार से ।"
खींचकर धनुष दहाड़ महायोद्धा ने
मारकर बाणों से अधीर किया गज को ।
छिन्न-भिन्न हो गया कवच सुलतान का,
टेक दिये घुटने गयंद ने विकल हो ।
कूदकर गोरी चढ़ा अश्व पर, फिर तो
गूँजा नभ घोर अस्त्रों के झंकार से ।
चित्रवत् सेना खड़ी शत्रु और मित्र की,
देखती थी भीषण समर मंत्रमुग्ध-सी ।
मानो लड़ते हों दो कराल व्याघ्र वन में
दोनों महावीरों का अभूतपूर्व युद्ध था ।
होती थी प्रसन्न कभी सेना आर्यभूमि की,

और कभी शत्रुदल उल्लसित होता था ।
इस भाँति खेलती थी विजय समर में
होके स्वच्छंद जैसे खेलती हो छनदा
इस ओर उस ओर प्रांगण में नभ के ।
सहसा न जानें किस ओर से चमकके,
भीषण फलकवाला चीरकर वायु को,
आया एक वाण मानो वासव का वज्र हो,
और घुसा दाहिने नयन में नरेश के
छेदता निकल आया वह पीठ ओर से ।
राजा जयचंद गिरा घूमकर गज से
मानो गिरा शिखर हिमालय का कटके
वासव के वज्र से—हुलास छाया अरि में ।
स्तम्भित सिपाही हुए क्षणमात्र के लिये
ज्वालावत् रोष फैला फिर आर्य-सेना में ।
ऐसी उठी आँधी प्रलयंकरी समर की,
उड़ गयी तृण-सी समस्त सेना गोरी की ।
एक भी बचा न प्रतिद्वंदी आर्यभूमि का,
रणक्षेत्र शून्य हुआ शत्रुओं से, केवल
शेष बचे हत और आहत पड़े हुए ।
रुक गयी आर्य-तलवार—वह किसको
जौहर दिखाती—तृप्त होती रक्त चाटके,
उचित नहीं था मुरदों का बध करना ।
आर्य हुए फिर से अजातशत्रु विश्व में
प्राप्त हुई फिर से स्वतंत्रता की प्रतिमा

डूब जो गयी थी कभी तम के समुद्र में।
गूँज उठा फिर से गगन आर्यभूमि का,
जैजैकार नाद से, महान् आर्य जाति के।
आर्यध्वज पूर्ण गरिमा से लहराता था,
घेरकर भारत अधीश्वरी को सेना ने
जैजैकार करके कँपाया त्रिभुवन को।
संख्यातीत हत-आहतों के बीच कवि ने
बढ़के सलामी दी महान् आर्यध्वज को।
आहत नरेंद्र को उठाके बड़े यत्न से
लौटी महारानी फिर अपने शिविर में।
साथ में विजय-मदमत्त आर्य-सेना थी
कीर्ति थी, महानता थी और थी स्वतंत्रता।
शेष हुआ युद्ध और दिन शेष हो गया
सोने का समुद्र लहराया नभ-प्रांत में।
चढ़कर विद्रुम की नाव पर हँसते,
दिनमणि पहुँचे प्रतीची के भवन में।
खोलकर प्राची के गवाक्ष निशानाथ ने
झाँककर देखा सरसी में रूप अपना।
खिल उठी प्रेयसी कलाधर की कुमुदी,
शांति मिली रवि-कर-दग्ध धरातल को,
आयी शिशुओं की पलकों को नींद चूमने,
मंद-मंद गंधवह आया सुख-स्वप्न-सा।
फिर मुक्त-भारत के प्रांगण में हँसती,
आ गयी विभावरी—दिवस शेष हो गया।

दशम सर्ग

आयी मोदपूरिता विभावरी विभामयी,
भूमि से गगन तक अभ्रक की धूलि-सी
भर गयी अमल-धवल-चारु चंद्रिका,
मानो भरा दुग्धफेन भूतल से नभ लौं।
रात बनी मूर्तिमती "शुक्लाऽभिसारिका"
आ रही है निज को छिपाये सित वस्त्र में।
अलंकार "मीलिता" सदेह देखा कवि ने,
किंतु नीलिमा थी निशानाथ के कलंक की,
यह "उन्मीलिता" का सहज स्वरूप था।

× × ×

संख्यातीत तीव्र उल्काओं का प्रकाश है
विजयी महान् आर्य-सेना है पड़ी हुई।
कितने शिविर हैं असंख्य गज, रथ हैं
घूमते हैं प्रहरी सतर्क वीर दर्प से
नंगी तलवारें लिये दिव्य वर्म पहने।

झलमल होते हैं सनाह, अस्त्र उनके,
उल्का के प्रकाश में—दवाग्नि मानो घूमती
ठौर-ठौर, माया से अनेक रूप धरके।

शत-शत दीर्घ शिविरों के बीच रानी का
सुंदर शिविर है—सुरक्षित हृदय हो,
जैसे अस्थिपंजरों के बीच में छिपा हुआ।
"आर्यध्वज" पूर्ण महिमा से लहराता है,
सामने शिविर के, प्रशांत नभोदेश में।
प्राप्त कर अपनी स्वतंत्रता के साथ ही
खोयी हुई विजय, मुदित आर्य-सेना है।
ज्वालामय ग्रीषम के बाद जब नभ में
देखते हैं जलद, हृदय तृप्त होता है।
वह सुख प्रिय होता है हमें कितना
प्राप्त करते हैं ज़िसे घोर दुःख भोगके।
अनायास प्राप्त बहुमूल्यवान् वस्तु भी
पाती नहीं आदर--नियम है जगत् का।
होते यदि रत्न सभी पत्थर पहाड़ के,
कैसे पद पाती रत्नगर्भा का वसुंधरा।

भीतर शिविर के महान भारतेश्वरी
बैठी हैं, समस्त आर्यभूप वहाँ बैठे हैं।
बैठे हैं विजयमद पीके उन्मत्त हो
मृत्युंजय सेनाध्यक्ष वीर आर्यसेना के।

मंत्री सभी बैठे हैं, विचार में निमग्न से,
मानो साम, दाम, दंड, भेद वहाँ बैठे हों,
ज्ञान-अनुभव-वृद्ध मंत्रियों के रूप में।
कवि चंद बैठा है समक्ष महारानी के
मानो रुद्र तेजोमय वीरभद्र बैठा हो
सेवा में भवानी के—प्रभावपूर्ण दृश्य है।
दुग्ध फेननिभ एक शय्या है बिछी हुई
राजा जयचंद मृतप्राय हैं पड़े हुए।
जीवन की ज्योति अब क्षीण हुई जाती है,
राजा हैं बने हुए प्रदीप निर्धन का,
हाय, जलते ही जो सनेह के अभाव से,
करता उपक्रम तुरंत बुझ जाने का।
चिंतित सभी हैं, यत्नशील राजवैद्य हैं,
बार-बार कवि चंद उठकर राजा को,
देखता है, दीर्घ श्वास त्याग बैठ जाता है।
नृत्य करती हैं दो तरंगें एक साथ ही
कवि-शांत-मानस में सुख और दुख की।
सुन पड़ती है धड़कन भी हृदय की
ऐसी है कठोर निस्तब्धता शिविर में।
बोला जयचंद व्यग्र अस्फुट स्वर में—
"आर्यपति, मैंने ही विनाश किया देश का
पृथ्वीपति पृथ्वीराज, आज क्षमा कर दो।
रक्षा करो मेरी नरकाग्नि से, प्रणत हूँ।
देशद्रोही मैं ही जयचंद देशद्रोही हूँ,

रोम-रोम मेरा जलता है मनस्ताप से,
होगा कौन मुझ-सा अभागा आर्यभूमि में।"

हाथ मलता है कन्नौजपति व्यग्र हो,
मानो वह "आयुरेखा" हाथ की मिटाता हो।
सुनके प्रलाप सकरुण जयचंद का
रो पड़े सभासद, कवींद्र हुआ विचलित,
बार-बार हृदय उमड़ आया रानी का।

जयचंद बोला फिर एक आह भरके
—"देखता हूँ, अब, देखता हूँ दूर नभ में
माता सिंहवाहिनी हैं, भारत-वसुंधरा,
सिर पर हिम का किरीट है लुभावना,
मानो उदयाद्रि पर रम्य शशि-लेखा हो।
छत्र है जलद का, असंख्य इन्द्रधनु-से
माता हैं विभूषित—त्रिशूल लिये कर में,
मानो शक्ति केंद्रित हो सृष्टि, स्थिति, लय की
अम्बिका के कर में—नयन तृप्त हो गये।
स्नेह भरी आँखें हैं, प्रसन्न हैं, प्रशांत हैं,
पुष्प, अर्घ्य लेकर उपस्थित त्रिदेव हैं।
गूँजता है "पृथ्वी सूक्त"* मानो वेद भक्ति से
स्वर रूप लेके महागान में निरत हों।
और-और, देखो वह देखो आर्य-सेना के,

---

* "पृथिवी सूक्त"—अथर्व संहिता, अध्याय १ सूक्त १ कांड १२

वीर जितने हैं मरे इस धर्मयुद्ध में,
आरती उतारते हैं, दिव्य रूप धरके।
आज होता मैं भी वहीं वीरगति पाता जो।
माता मुस्काईं—सुधावृष्टि हुई नभ से,
रूप से विभा से उद्भासित भुवन है।
रोको मत—मैं भी चला पूजा शेष हो चली,
माता आर्य-जननी, हे भवभयहारिणी,
तनिक सहारा दो—दया करो दयामयी।"

एक बार चीखकर राजा जयचंद ने
चाहा उठ बैठना, परंतु प्राण उसके
छोड़कर लीन हुए माता के चरण में।
दीप-शिखा लीन हुई जाके अंशुमाली में
लीन हुई लहर अनंत पारावार में।
सौंपकर निजकृत कर्म-भार प्रभु को,
सौंपकर यश-अपयश इतिहास को,
सौंपकर नाशवान देह मातृभूमि को,
राजा जयचंद हुआ पार भव-सिंधु के।

बोला कवि चंद—"घोर नरमेध यज्ञ की
पूर्णाहुति आज हो गयी यों, इस रूप में।
'समिधा' बना, जो कल 'होता' कहलाता था,
दृश्य हैं परस्पर विरोधी, पर सत्य हैं।
इस महानाटक के सूत्रधार प्रभु हैं,

हम सब पात्र हैं, तथापि नहीं जानते
कब शेष होगा अभिनय और हाय रे
होगा पटाक्षेप कब,—कैसी है विचित्रता।
कोई नहीं कह सकता है त्रैलोक्य में
यह भव-नाटक सुखांत या दुखांत है।"

रोये सभासद और भारत-अधीश्वरी
धीरता धरा-सी कर धारण विदा हुई।

× × ×

जिस भाँति स्वर्ण शुद्ध होता है आँच में,
शुद्ध हुआ राजा भी चिता की महाज्वाला से।
भस्म हुआ पार्थिव शरीर जयचंद का,
भस्म हुआ सुख-दुःख साथ उसी देह के।
वायु ने उड़ायी खाक, आकर जलद ने
धोयी वह भूमि जहाँ राजा की चिता बनी।
मुँह जोहता था इतिहास जिस वीर का
बन गया छोटी-सी कहानी वही सहसा।

× × ×

बोला वीर सेनापति जाके महारानी से
—"आयी लौट सेना विध्वंश कर गोरी के
शिविर समस्त, किंतु आर्य-सम्राट् का
अब तक कोई पता उसको चला नहीं।
भागा फिर गोरी—हम उष्ट्रवाही दल को
भेज चुके भारत की सीमा ओर टोह में।

छद्मवेश में जो वह होगा छिपा देश में
गुप्तचर देंगे शीघ्र सूचना,—सतर्क हैं
हम उस शत्रु से, किया है नाश जिसने
पूज्य मातृभूमि का"—कहा यों महारानी ने
"सर्प क्या छिपेगा कभी नीड़ में गरुड़ के
आप मेरी ओर से समस्त आर्य-सेना को
धन्यवाद दीजिये, बहाके रक्त अपना
मान रक्खा वीरों ने महान् आर्यभूमि का।
याद रहे, राहु कभी शशि और रवि का
शत्रु था, परंतु अब शीश मात्र शेष है,
किंतु वह आज भी सुयोग पाके रोष में,
चाहता है लील जाना शशि, दिनकर को।
हारे हुए शत्रु और चोट खाये व्याघ्र से
खूब सावधान रहना ही बुद्धिमत्ता है।
जानती हूँ, मुझसे अधिक सभी व्यग्र हैं
देखने को वीर आर्यपुत्र सम्राट् को
फिर सिंहासन पर, आर्यपति-रूप में।
अतएव अब मैं अधीरता हृदय की
चाहती नहीं हूँ व्यक्त करना अधीर हो।"

मौन महारानी हुईं, मंत्री मंत्र-मुग्ध-से
बैठे रहे, सेनापति उच्छ्वसित कंठ से
बोले—"भारतेश्वरी, विकल हम सब हैं
देखने को अपने महान् सम्राट् को

रात बीती किंतु "बालखिल्यों" ने दिनेश को
बंदी बना रक्खा है तिमिर-काराकक्ष में।
दिन होगा कैसे दिनकर के अभाव में।
कैसे पूर्ण विजय कहेंगे इस जीत को
जब सम्राट् हैं अभी भी दूर हम से
बंदी बने, शत्रु के घृणित कारागार का।
कैसे हम समझें हमारी देह मुक्त है
गर्दन हमारी तो फँसी है यम-फाँस में।"

बोले वृद्ध मंत्रिवर—"सेनाध्यक्ष, ठीक है,
तुच्छ वस्तु पाके तुच्छ जन तुष्ट होते हैं,
करते महान् ही हैं कामना महान् की।
बध कर शशक शृगाल तृप्त होता है,
और मृगराज खोजता है गजराज को।
शत्रु और सर्प को न छोटा कभी मानिये
अवसर पाके ये अनर्थ कर देते हैं।"

कवि चंद मौन था, तथापि मन उसका
भूमि से गगन तक एक-एक अणु में
दौड़ता था, खोजता था बंदी सम्राट को।
देश मुक्त हो गया, सभी ने एक प्राण हो—
पूर्ण कर डाला राष्ट्रधर्म प्राण होम के
किंतु आर्य-धर्म कहता था महाकवि से—
"जब तक आर्यश्रेष्ठ पृथ्वीराज बंदी हैं

तब तक पाप होगा बैठ जाना शांति से ।
मुक्ति पायी देश ने, महान् आर्य जाति ने
पाया गत-गौरव विलुप्त तेज फिर से ।
देवी संयोगिता-सी रानी मिली देश को
और मिला 'रैनसी'* उदीयमान भानु-सा
उत्तराधिकारी उदयाचल-सा राष्ट्र का ।
प्राप्त हुई वीरता को आर्य-सेना, सेना को
विजय विभूति मिली, आर्य इतिहास को
उज्ज्वल पृष्ठ मिले, आर्यों की विजय के,
पाये कविकंठ ने विमल गीत, गीतों को
ज्वालापूर्ण ओज मिला वीरों के उमंग से ।
इस भाँति प्राप्त हुईं अणिमादि सिद्धियाँ
सारी आर्यभूमि को, परंतु कवि चंद को
क्या मिला"—अधीर इसी सोच में कवींद्र है ।

लोकालोक-पर्वत समान कविवर था
आधा विभापूर्ण और आधा अंधकार में ।
आधी रात हो रही है अपने शिविर में
बैठा है कवीश्वर—प्रदीप एक कोने में
जलकर धुँधला प्रकाश फैलाता है ।
पूजा का कलश ज्यों विसर्जन के पहिले
दीख पड़ता हो गतगौरव उदास-सा
फूल मुर्झाये हुए, अक्षतादि जिसके

---

* रैनसी—पृथिवीराज का बालक पुत्र था ।

चारों ओर बिखरे पड़े हों और त्यक्त-सा
धूपदान राख से भरा हो, बुझे दीप हों—
ठीक इसी भाँति अस्त्र-शस्त्र एक कोने में
दीख पड़ते थे पड़े स्तूपीकृत, व्यर्थ से।
दीख पड़ता था कवि कर्महीन, खोया-सा,
मानो थमी आँधी थका वैनतेय बैठा हो,
अस्त-व्यस्त पंख हैं, अधीर मन उसका
श्रांत हो गया है और साथ नहीं देता है।
हाँफता है पच्छीराज बैठा एक डाल पर
ऐसी गति हो रही थी कर्मवीर कवि की।
उसकी दशा थी कुरुपति-सी द्विधामयी।
योगी और मूर्ख निश्चिंत हैं भुवन में,
वे ही हैं अभागे जो न योगी हैं न मूर्ख हैं।
बाहर थी शांति, थकी सेना चित्र युद्ध के
देखती थी निद्रा की विचित्र चित्रशाला में।
गूँजती थी हाँक प्रहरी की शून्य नभ में,
कवि के निकट नींद आती थी सहमती,
किंतु देख चिंता की पिशाची लौट जाती थी।
कवि लेटता था कभी और कभी उठके
घूमता था विकल, विवश, हतचेत-सा।
चिंता की हिलोरें उठती थीं मन-सिंधु में
डगमग नाव-सी थी चेतना कवींद्र की।
ओर-छोर सूझता नहीं था महाबाहु को
और स्वप्न जैसी निशा बीती चली जाती थी।

व्यग्र चित्त कवि ने पुकारा महामाया को
"लोप हो गया है कर्त्तव्य-ज्ञान सहसा
आज मैं खड़ा हूँ चौरस्ते पर अम्बिके !
दिन शेष हो गया है, आयी रात भादो की,
तेजोमयी तेज दो, प्रकाश दो, सहारा दो।
अब आर्यभूमि तो अजातशत्रु हो गयी
आज आबद्ध है स्वदेश एक सूत्र में,
अटक से कटक, सुदूर नगराज से
दूर देशस्थित कुमारी अंतरीप लौं
गूँजता है जयजय-नाद आर्य, आर्यभूमि का।
उदय हुआ है रवि दिव्य राष्ट्रधर्म का,
आज राष्ट्रीयता ही श्रेष्ठ आर्यधर्म है।
मेरा सुख-स्वप्न अब दिव्य रूप धरके
सामने खड़ा है, मन-प्राण मेरे तृप्त हैं।
यह तो प्रसन्नता है, किंतु रह रहके
होता हूँ विकल याद कर सम्राट की।
प्राण से विलग देह शव कहा जाता है
मैं भी शव-रूप हूँ—विलग मेरे प्राण हैं।
राष्ट्रधर्म पूरा हुआ अब आर्य-धर्म मैं
पालन करूँगा—मुझे सत्य का प्रकाश दो।
उचित यही है सुख सौंपकर अपना
प्रिय आर्यभूमि को, मैं खोजूँ सम्राट को।
कर्महीन-आलस का नाम ही तो सुख है,
सुख कर देता है विलग कर्त्तव्य-से,

कर्मवीर लात मारते हैं रिक्त सुख को ।
एक बात यह भी अधीर किये डालती,
आज एक श्रेष्ठ आर्य बंदी है बना हुआ
कायर अनार्यों के घृणित कारागार में ।
यह तो समस्त राष्ट्र का ही अपमान है,
माना, मिले प्राण मृतप्राय आर्यभूमि को,
पर यह कितना घिनौना अपयश है ।
धन्य है कलंकहीन जीना एक क्षण का
युग-युग जीना सकलंक धिकार है ।
संभव नहीं है, मुक्त करना नरेंद्र को
तोड़कर शत्रु का प्रबल घेरा अस्त्र से,
किंतु बल, कौशल से जिस भाँति हो सके,
मुक्त मैं करूँगा महाराज पृथ्वीराज को,
मुक्त कारागार से या मुक्त भव-पाश से ।
दोनों भाँति आर्यों का कलंक धुल जायगा ।
पाशबद्ध पशु रहते हैं पराजित हो
किंतु वीर हारते नहीं हैं—मिट जाते हैं
'जय' या 'मरण' यही धर्म है सिपाही का ।
पृथ्वीराज पद से भले ही सम्राट हों
किंतु जाति से हैं 'आर्य' और किसी काल में
आर्य नहीं बंदी बने—कैसी दैव-लीला है ।
सत्य का प्रकाश दो स्वयम् निज बल से
पथ मैं प्रशस्त कर लूँगा भवतारिणी ।"

बार-बार अम्बा को पुकार भक्ति-भाव से
कवि चंद लीन हुआ सहज समाधि में।
ब्रह्मतेज भभका ललाट पर सहसा,
बाह्य ज्ञान लुप्त, दृष्टि अंतर्मुखी हुई!

× × ×

गंधवह आया लिये गंध वन-फूलों का,
तेजहीन दीप हुए, तारे लुप्त हो चले।
सोये पच्छियों के सपनों से बिदा माँगती
रजनी विदा हुई, प्रणाम कर ऊषा को।

एकादश सर्ग

दिनकर अस्त हुए उस पार वन के,
आयी गोधूलि, मानो निजको छिपाती-सी,
भुवन-विमोहिनी-मुनींद्र-मन-रंजिनी,
आयी योगमाया ओढ़ चादर सुनहली।
कूज उठे खग पादपों में डाल-डाल से,
आया सांध्य गंधवह, धूप से पकी हुई
घास की महक लेके—छायी शांति गहरी।
कवि चंद बैठा है शिखर पर गिरि के
देखता है शून्य नभ ओर, कभी देखता
फैली हुई गहन दिगंतव्यापी अटवी।
नीलिमा है ऊपर हरीतिमा है नीचे,
बीच में भरी है विभा अस्तप्राय रवि की,
स्वर्णधूलि जैसी—मनोमुग्धकारी शोभा है।
शशि दिखलायी पड़ा पूरब क्षितिज पर
एक ओर रवि और एक ओर शशि की

शोभा थी अनोखी, मानो दिन और रात को
तोलने को अद्भुत तुला हो स्वर्ण-रौप्य की ;
अथवा प्रकृति-मोहिनी के युग कर में
वारुणी, सुधा से भरे अनुपम घट हों ;
छाया-पथ जान पड़ता था तुलादंड-सा ।
कुंचित अलक पुष्ट कंधों पर कवि के
खेलते हैं त्रिविध समीर के झकोरों से ।
सो रही है लिपट सुवास वनफूलों की
कवि से—हो मानो "रतिप्रियता" सुनायिका ।
देखा कवि चंद ने सुदूर खुले प्रांत में,
पंक्तिबद्ध जा रही है सेना बलखाती-सी,
मानो चीटियों की दीर्घ-पतली कतार हो ।
उड़ता है "आर्यध्वज" शून्य नील नभ में,
सुन पड़ता है वाद्य, जैसे दूर नभ से
आती है सुनायी बादलों की गुरु गर्जना ।
चमक रहे हैं सिरस्त्राण अस्त्र वीरों के
मानो खद्योत पंक्तिबद्ध चले जाते हों ।
दीर्घ स्वास त्याग कर उठके कवींद्र ने
सादर प्रणाम किया पूज्य आर्यध्वज को
और कहा—"आर्यध्वज, विश्वविजयी बनो,
सत्य करें मेरी यह कामना दयामयी ।
दर्शन न होंगे मुझे अब इस जन्म में,
संभवतः तेरे,—यही लालसा है मन में
एक प्राण हो के आर्य जाति आर्यध्वज की,

रक्षा करें, खेलकर जान पर अपनी ;
और आबद्ध रहे देश एक सूत्र में ।"
आँसू भर आये कवि चंद के नयन में
देखा फिर पोंछकर आँखें उत्तरीय से,
लौटी जा रही है आर्य-सेना गजरथ की,
संख्या है असंख्य, धूलि छायी है गगन में ।
बार-बार आँखें भरकर कविवर ने
देखा वीर-वाहिनी को, दिल्ली ओर लौटते ।
आयी निशा और आये नखत गगन में,
आया मंद गंधवह ; चारों ओर वन से,
आने लगे श्वापदों के शब्द गुर्राने के ।
गूँज उठा घुग्घू का गभीर स्वर वृक्षों में,
झाड़ियों से निकल शृगाल लगे भूकने ।
कवि चंद बैठा है प्रशांत ध्यानमग्न-सा,
उच्च गिरि-चूड़ा पर मानो 'मेघदूत' का,
विरह-विदग्ध यक्ष दिव्य 'रामगिरि' पर,
बैठा हो प्रतीक्षा में घटाओं की अधीर हो ।

× × ×

एक-एक दिन बना मास, मास वर्ष बन
शेष हुआ—कालचक्र रोके नहीं रुकता ।
मधुऋतु शेष हुई, आया ग्रीष्म दैत्य-सा
आये जलधर, नभ-सिंधु में जहाज से ।
शेष हुई वर्षा भी, शरत् आया हँसता
आयी अन्नपूर्णा लुटाती स्वर्ण खेतों में ।

फिर हेमंत आया—व्यग्र हुई वसुधा
पीले पड़े पत्ते, आया शिशिर सिहरता ।
इस भाँति ऋतुचक्र घूमता है वेग से
दिन पर दिन बीतता है लघु स्वप्न-सा !
घूमता है साधु एक गोरी के नगर में
चेहरा भरा है दीर्घ दाढ़ी और मूछों से ।
कंधों पर कुंचित अलक लहराते हैं
किंतु रह-रह के हुताशन की ज्वाला-सा
आत्मतेज फूट पड़ता है तीव्र आँखों से ।
वस्त्र है फकीरों-सा गले में पड़ी शेली है
और 'तस्वीह' फेरता है नवरत्न का ।
पड़कर सामने पथिक भौचक्का-सा
करके सलाम एक ओर हट जाता है ।
मच गयी धूम नये 'शाह' की नगर में
होड़-सी मची है सत्कार में फकीर की ।
कोई कहता है यह पूरब से आया है,
कोई कहता है यह पच्छिम-निवासी है,
कूटी हुई औषधि की रमते फकीर की
कौन पहचान है—प्रमाणातीत दोनों हैं ।
बोलता है भाषाएँ अनेक शुद्ध रीति से
ऐसा था रहस्यपूर्ण साधु—सभी श्रद्धा से
पूजा कर मानते थे कृतकृत्य निजको ।
राज्य के अनेक अधिकारी भक्ति-भाव से,
पूजते थे शाह को, तथापि निर्लिप्त था,

आदर-अनादर से और सुख-दुःख से ।
भूमि पर्यंक थी, चँदोआ नील नभ था
अंजलि थी पात्र और फल राजभोग था ।
नगर-निवासी मुँह जोहते थे शाह का
किंतु शाह मुँह जोहता था विश्ववंद्य का ।
क्रमशः शाह की सुकीर्ति कुछ दिन में
फैली सब ओर दिन दूनी रात चौगुनी ।
कोई खोजता है प्राणहोम के सुकीर्ति को
पर कीर्ति स्वेच्छा से वरण कर लेती है
उस नररत्न को जो कर्मवीर, धीर हो ।
शासक था गोरी प्रजाजन के शरीर का
किंतु शाह शासक था सबके हृदय का ।
अस्त्र लेके देश जीत लेना तो सहज है
जीत जाना हृदय किसी का तलवार से
संभव नहीं है—यहाँ सत्य, स्नेह चाहिए ।

एक दिन बोला महामंत्री बादशाह से
अवसर पाके—"सुलतान के नगर में
आये हैं फकीर एक, तेजोमय रूप है
और वे निमग्न रहते हैं तत्व-चिंता में ।
भोजन में फल और नीचे आसमान के
सोते हैं सदैव, भूतमात्र के हितैषी हैं ।
सेवकों से जो-जो बहुमूल्य भेंट पाते हैं
बाँट देते हैं वे दुखियों में मुक्तहस्त हो ।

सब भाँति संग्रह, सुरक्षा की विपत्ति से
मुक्त रहते हैं शाह—पूर्ण तत्वज्ञानी हैं ।
देखते हैं हस्तामलक-सा त्रिकाल को,
पढ़ लेते हैं भाग्यलिपि एक दृष्टि में ।
शाह कहते हैं—'पुण्य मेरा मिले जग को
भोगूँ पाप-फल मैं समस्त नरलोक का ।'
ऐसा महात्यागी, महायोगी महाभक्त मैंने
देखा नहीं स्वप्न में भी—धन्य वह देश है
जिस देश में हों बसे ऐसे लाल प्रभु के !"

उत्सुक हो बोला सुलतान—"आप उनको
ला सकते हैं कभी मेरे दरवार में ?
दर्शन करूँगा—भाग्य अपने सराहूँगा !"
बोला तब मंत्री संकोचवश नम्र हो
—"पृथिवीनाथ ! जाते वे नहीं हैं कहीं, दास ने
उनसे निवेदन किया था पर हँसके
चुप हो रहे वे, हुआ लज्जित मैं मन में ।
आप विश्व-विजयी हैं, वे हैं आत्म-विजयी,
प्यारे आप प्रभु के हैं, वे हैं दास 'दाता' के,
समझें उचित जैसा, वैसी ही व्यवस्था हो ।"
कुछ क्षण सोचकर गोरी कहने लगा—
"चाहता हूँ फिर से चढ़ाई करूँ सेना ले
काफिरों के देश पर—आठ बार हारा मैं ।
इस बार लाया महाराज पृथ्वीराज को,

पाकर सहारा देशद्रोही जयचंद का।
एक ही था देशद्रोही वह सारे देश में,
किंतु अब संभव नहीं है भेद-नीति से
काम कुछ निकले, निराशा बड़ी होती है।
काठ की लगाके बेंट अपने कुल्हाड़े में
काटते हैं काठ को, सनातन नियम है।
हीरा कटता है सदा हीरे से—विचार लें।
किंतु यह जीत हार से भी दुःखपूर्ण है,
अंत में पराजित हो भागना पड़ा मुझे।
आज भी मैं काँप उठता हूँ याद करके
काफिरों का जोश, हुहुंकार महारण का।
देखा नहीं सेनापति मैंने जयचंद-सा,
देखी नहीं रौद्रमूर्ति मैंने महारानी-सी,
भाग्य से बचा मैं उस सिंहनी की चोट से।
काफिरों ने धुन डाला मेरी शेष सेना को
रूई की तरह—उफ़्, कैसा घोर युद्ध था।
इस परिताप में ही मैं तो घुला जाता हूँ,
इच्छा यही होती है कि उस तपोधन से,
पूछूँ मैं भविष्य और फिर शुभ दिन को,
सेना ले चढ़ाई करूँ—सुंदर है कितना,
काफिरों का देश वह, धन-धान्य-पूर्ण है।
सतत प्रयत्न करे साहस के साथ जो
कुछ भी असंभव नहीं है उसके लिये।
उचित यही है मैं स्वयम् उस योगी के

दर्शन करूँगा—आप सूचित करें उन्हें।"
"धन्य बादशाह"—कहा मंत्री ने उछाह से,
सादर झुकाके शीश धीरे से विदा हुआ।

× × ×

बाहर नगर के सुरम्य एक वन है
सुंदर खजूरों का—दिवस के प्रकाश में
नाचते हैं पत्ते झिलमिल और बुलबुल
गाती हैं—कवित्वपूर्ण शांत वह प्रांत है।
झरना प्रवाहित है एक मीठे जल का
भूमि है हरित मखमल-सी; मृदुल है।
धूप और छाया खेलती है वहाँ हँसती
सत्य और माया मानो मुदित हृदय से
खेले जन-मानस में 'धूपछाँह' बनके।
शाह रहते हैं इसी स्वप्न-जैसे वन में।
आया शाह गोरी पदव्रज नम्र भाव से
साथ में थे दास लिये भार उपहार का।
रत्नमय थालों में विविध फल, मेवा थे,
सुखद-सुगंध स्वादवाले पकान्न थे।
साथ में थे मंत्री—सभी सेवक वधिर थे,
वधिर सशस्त्र प्रहरी थे तातार के,
काल-रूप मानो मूर्तियाँ हों बनी लोहे की।

देखते ही गोरी को निकट क्रुद्ध सिंह-सी
जाग उठी ज्वाला उग्र शाह के हृदय में।

फड़कीं भुजाएँ, हुईं आँखें अंगार-सी,
चढ़ गयीं त्योरियाँ परंतु बड़े यत्न से
शाह ने छिपाये निज भाव मन मारके ।
बरबस लाके मुस्कान दीप्त मुख पर
बोला शाह—'स्वागत है', फिर कुछ सोचके
कहने लगा यों—"बादशाह किस हेतु से
आये यहाँ, यह तो फकीरों की जगह है ।"
बोला तब गोरी अत्यंत दीन वाणी में—
"मैं तो बादशाह हूँ अनंत धरातल के
एक लघु खंड का—परंतु आप शाह हैं
सारे भवमंडल के, आज हम धन्य हैं,
पाके आप-जैसे बादशाह बिना ताज के ।"
शाह मुस्काया विषपूर्ण मुस्कान में,
जिस भाँति अग्नि-भरे कुम्भ पर रख दे
कोई एक हिमखंड छोटा-सा तुरंत ही
वह हिम भाप बनकर उड़ जायगा ;
होके परिणत दो-चार बूँद जल में,
नष्ट होगा नीचे विकट उत्ताप से ।
ठीक इसी भाँति मुस्कान उस शाह की
तनिक झलक के विलीन हुई रोष में ।
देखके असंभव समझना था गोरी को
यह सूक्ष्मतम परिवर्तन विचार का ।
अंधा है स्वयम् स्वार्थ और ज्ञानहीन है,
अतएव स्वार्थी ज्ञान-अंध कहा जाता है ।

भेंट-उपहार रखकर भक्ति-भाव से
बोला सुलतान—"आप पूर्ण हैं स्वयम् में,
किंतु इन तुच्छ भेटों से दास अपने
मन की प्रकट करता है नम्र भावना।
आप जानते हैं गति मानव-हृदय की,
विश्व में अगोचर नहीं है कुछ आपसे।
चाहता था करना निवेदन, परंतु मैं
सकुचा रहा हूँ, भय-कातर हृदय है।"

कुछ देर ध्यानमग्न रहकर शाह ने
खोले अंगार-से नयन मानो सोते से
जाग उठा सिंह देख सामने गयंद को;
काँप गया गोरी तपतेज के प्रभाव से।
बोला शाह—"समझ गया मैं सुलतान क्या
चाहते हैं कहना—परंतु एक बार मैं
चाहता हूँ देखना स्वयम् उस बंदी को।
मैंने पढ़ी भाग्यलिपि आपकी, परंतु अब
चाहता हूँ भाग्य-रेखा देखूँ उस राजा की
लाया जिसे काफिरों के देश से पकड़के।
तब मैं कहूँगा कब आप टूट पड़िये
शत्रुओं के देश पर और होके विजयी
लौटिये असीम धन-यश लिये साथ में।"

होकर मुदित कहा गोरी ने विनय से—

—"आज्ञा हो अभी मैं बुलवा दूँ यहीं बंदी को।
कौन है समर्थ इस राज्य में जो आपकी
आज्ञा का अमान्य करे—हम सब दास हैं।"
बोला शाह कुछ क्षण चिंता-मग्न रहके
—"देखूँगा उसे मैं वहीं—आप काराध्यक्ष को
दे दें आदेश, इतनी ही दया चाहिए।
वह विश्वव्यापी ही फलाफल का दाता है
हम तो बँधे हैं पशुवत् कर्म-रज्जु में,
विनय करूँगा मैं दयामय से आपकी
चिंता करें दूर वे—मैं कृतज्ञ हुआ आपका
कष्ट किया आपने पधार निर्जन में।"

बार-बार भक्ति से प्रणाम कर शाह को
गोरी पूर्ण आशा भरे मन से विदा हुआ।

× × ×

त्याग दीर्घ श्वास शाह अलसित मन से,
चारों ओर देखके, समाधि-मग्न हो गया।

द्वादश सर्ग

देखकर काँप उठे कुंभीपाक पत्ता-सा,
दहले हृदय यमदूत का भी—ऐसा ही
वह महा भीषण, कठिन कारागार था,
बंदी जहाँ भारत के आर्य-सम्राट् थे।
घोर तमपूर्ण और नीचे भूमि-गर्भ में
पाहन-गठित एक छोटा-सा प्रकोष्ठ था।
द्वार था सुदृढ़ सीखचों का, बंद तालों से,
सीखचे गहन थे—किसी भी भाँति उँगली
फाँक में घुसेड़ देना घोर दुस्तर था।
भय था कि सीखचों को राजा कहीं रोष में,
तोड़ मत डालें वज्रमुष्टियों से खींच के।
प्रहरी सदेह प्रेत-जैसे तातारी थे
भूखे भेड़ियों-से निर्दय, महासाहसी
कूप-सा बना था मुख्य द्वार दृढ़ लोहे के
सीखचों से बंद था—कराल यमदूत से

रक्षक शताधिक वहाँ थे सदा घूमते ।
जाती हुई भय से हवा भी थर्राती थी
पर मारना भी था असंभव परिंदों को ।
चारों ओर दुर्गम विपिन था भयावना
घूमते थे शेर दिन-रात स्वच्छंद हो ।

कोठरी में थोड़ा-सा पयाल था बिछा हुआ,
मृण्मयपात्र जलपूर्ण एक कोने में
रक्खा था, भरी थी नमी गच-दीवारों में,
आती थी महक उस कोठरी से 'सील' की ।
बंद कर पींजड़े में भारत के सिंह को
गोरी सदा रहता सशंक—भला काल को
सिर पर अपने बिठाके कौन सुख की
मीठी नींद सोयेगा—अधीर जब प्राण हों ।
दिन शेष हो चला था—पच्छिम क्षितिज पर
दीख पड़ते थे खड़े रवि, मानो रात को
चाहते हों देखना तनिक आँख भरके ।
किंतु गोधूलि के भवन में विभावरी,
लज्जा से छिपी थी और दीप घर-घर में
बैठे थे सजग युद्ध करने को तम से ।

आया 'शाह' सहसा निकट कारागृह के
खोलकर द्वार हटे प्रहरी अदब से ।
काराध्यक्ष मार्ग दिखलाता चला जाता था

लेकर 'मसाल' चुपचाप, नत भाव से ।
'शाह' ने प्रवेश किया भीतर विवर के
मानो धर्मराज चले कुंभीपाक देखने ।
दूर से दिखाके द्वार रौरव नरक का
सौंपकर ताली और जलती मसाल को,
लौट गया करके प्रणाम अध्यक्ष भी ।
चारों ओर देखकर आगे बढ़ शाह ने
खोल दिये ताले—पाते ही कुछ खटका,
वेग से नृसिंह उठा रोष में दहाड़ता ।
"लज्जा नहीं आती तुझे लाख धिक्कार है,
क्यों छेड़ते हो मुझे कायरो, घड़ी-घड़ी !"
बेड़ियों का शब्द हुआ और हुंकार से,
काँप उठा कारागार—दौड़ आये प्रहरी,
अस्त्र-शस्त्र लेकर परंतु उन्हें शाह ने
जाने का निदेश दिया—फिर शांति छा गयी ।
सिर पर रुक्ष बालों का एक वन था
मूँछें थीं चढ़ी हुई परंतु सारा चेहरा
दाढ़ी और मूँछों से भरा था—शैवाल से
मानो सरसी में कोकनद हो छिपा हुआ ।
दुर्बल शरीर था—थे 'टाट' पहने हुए,
जूएँ रेंगती थीं, बेड़ियाँ थीं पड़ी पैरों में ।

एक बार 'शाह' ने निहारा आँख भरके,
और गिरा दौड़कर राजा के चरण पर ।

बोले महाराज व्यग्र स्वर में अधीर हो
—"कौन तुम, कैसे पहचानूँ, हाय अंधा हूँ।"
बोला शाह वाष्परुद्ध कंठ से कराहके—
"मैं हूँ चंद—देखी नहीं जाती प्रभो, आपकी
ऐसी दशा, हाय दुर्भाग्य, क्रूर दैव ने
यह दृश्य दास को दिखाया—हतभागा हूँ।"
"कौन तुम चंद?"—कहा चीखके नरेंद्र ने
"कैसे यहाँ आये—इस रौरव नरक में ?
बंदी हुए, अथवा हमारी आर्य-सेना ने
करके चढ़ाई रौंद डाला इस देश को ?"
"धीरे महाराज"—कहा चंद ने सहमके,
धीरे से सुनायी कथा अपनी नृपेंद्र को।
युद्ध की समस्त इतिवृत्ति फिर कहके
कवि ने रहस्य समझाया यहाँ आने का।
तृप्त महाराज हुए और फूटी आँखों से
एक साथ उमड़ी पवित्र गंगा-यमुना।
बोले—"मित्र, शेष हुआ परिताप मन का
सुनकर विजय-कहानी आर्य-सेना की।
तुमने असंभव को संभव बना दिया,
कायर प्रतीक्षा करते हैं अवसर का,
जोहता है मुँह अवसर कर्मवीर का।
चिंता नहीं है मरने की मुझे, ध्यान से,
सुन ली तुम्हारी सभी बातें, अब आगे की,
शीघ्र ही व्यवस्था हो, यहाँ मैं तैयार हूँ।

मैं भी कहता हूँ आज पूर्ण उच्छ्वास से
"भारत-अधीश्वरी संयोगिता की जय हो—
जय हो आर्यभूमि की—मैं आज धन्य-धन्य हूँ ।"

एक बार कवि को लगाके गले राजा ने
स्नेह से टटोला और वाष्परुद्ध स्वर में
चाहा कुछ कहना परंतु शब्द एक भी
निकला न मुँह से—अधीर होके रोये वे,
वज्र भी पसीज सकता है—सिद्ध हो गया ।
स्वस्थ कर निज को कवींद्र, महाराज की
पद-रज लेके, सुख-स्वप्न-सा विदा हुआ ।

× × ×

सुनके चहक बुलबुल की मदमत्त हो,
फाड़ कलियों को, नवयौवन गुलाब का
खिल उठा, आँगन में ऊषा के थिरकता ।
नीड़ से निकलके, जँभाइयाँ ले हौले से,
डाल पर आये खग, धीरे से, फुदकते ।
मस्जिद की ऊँची मीनारों को भिंगोती-सी
बरसी ललायी, पूर्व अम्बर से हँसती ।
मरकत-सी थी हरियाली खुले प्रांत की,
लाल हुआ जल निर्झर का प्रभात में ।
मानो सुविशाल पन्ने की शिला पर से,
विगलित माणिक की धारा बही जाती हो ।
लीन अपने में शाह ध्यान-मग्न बैठे हैं,

करके उपेक्षा महायोगी योगमाया की,
लीन हो गया हो, मानो ब्रह्ममय ज्योति में।

आया महामंत्री सुलतान का—विनय से
एक ओर बैठ गया चुपचाप, छाया-सा।
ऊषा गयी, नभगंगा को भर लाली से,
मानो खेल होली रात भर घनश्याम से,
भोर होते, धोकर अबीर निज मुख का
रविनंदिनी में, वृषभानुनंदिनी गयी।
करके प्रणव-घोष अस्फुट स्वर में
आखें खोल शाह ने झुकाया शीश प्रभु को।
शाहजी सचेत हुए—यह जान मंत्री ने
भूमि से लगा शीश
—"नाथ, स्वीकार हो प्रणाम दीन दास का।"
हँसकर बोले शाह—"सब कुछ ठीक है,
गोरी ने पठाया तुम्हें?—मैंने कल बंदी की
भाग्य-लिपि पढ़ ली—न चिंता करो मन में,
डूब गये उसके सितारे भले दिन के।
जानता उसे हूँ मैं महान् भीमकर्मा है,
उस-सा धनुर्धर न खोजे कहीं पाओगे।
बोलो सुलतान से कि, एक दिन उसका
देखें जरा कौशल स्वयम्, दरबार में।
प्रस्तुत है कैदी कला अपनी दिखाने को,
तोड़ देगा सात-सात मोटे तवे लोहे के,

एक-एक मन का फकत एक बाण से।
सीखें सुलतान यह गुण उस योद्धा से,
गुण लेने में मत शत्रु-मित्र मानिये,
प्राप्त करते हैं मणि सर्प से भी यत्न से।
आप कहें जाकर भविष्य सुलतान से
होंगे वे अवश्य राजा काफिरों के देश का।
किंतु अभी समय नहीं है—क्रूर ग्रह हैं,
आवेंगे सुदिन शीघ्र—सेना ठीक कीजिये।"

मुदित वजीर चला शुभ संवाद ले,
सुनकर गोरी ने सहर्ष कहा—"शाहजी
सत्य कहते हैं, हम देखें उस वीर का
भीषण पराक्रम—व्यवस्था शीघ्र कर दें।
आम दरबार हो, प्रजा भी जरा देख ले,
कैसे महायोद्धा को परास्त किया हमने,
लाया बाँध, लड़कर सम्मुख समर में।
दूर होगी इससे पराजय की भावना
मेरे प्रजाजन की, विचार देखें आप भी,
और बढ़ जायगा महत्व मेरी जीत का।
दाढ़ी और बाल कटवाके, महाराज को
स्नान करवा दें, फिर दिव्य वस्त्र पहना,
लावें उन्हें, लक्ष्यवेध-हेतु दरबार में।
लक्ष्यवेध देखकर निश्चय ही सबकी
भक्ति बढ़ जायगी, सनेह बढ़ जायगा।

देश है हमारा वीरपूजक हृदय से,
संभव है देखकर दुर्गति नरेश की,
निंदा करे जनता हमारी क्रूर नीति की।
संघबद्ध दुष्टता का नाम कूट-नीति है,
चलता नहीं है राज-काज बिना इसके।
चाहे जो अनर्थ करें आँखें बचा जग की
गोटें सभी आपकी हैं लाल, निःशंक हो
लूटिये प्रजा को, खून चूसिये अभागों का।
विष खिला दीजिये छिपाके नवनीत में,
धन्यवाद देगा जो चखेगा, उपकृत हो,
आपकी सराहना करेगा मुक्तकंठ से।
शाहजी से विनय करें यों हाथ जोड़के,
कृपया पधारें वे स्वयम् रंगशाला में,
सच कहता हूँ, उत्साह मेरे मन का
उनके अभाव में अलोना रह जायगा।"

मंत्री विदा हो गया—व्यवस्था होने लगी
रंगशाला की—तवे सात बने लोहे के
एक-एक मन भारी, ढाल के आकार में।
फेरके मुनादी भली भाँति प्रजाजन को
सादर बुलाया गया, उचित समय पर।
फैल गयी चर्चा तमाम क्षण भर में
कैदी वीर काफिर के भीम बाहुबल की।
कोई कहता था—यह जादू का तमाशा है,

कोई कहता था—है असंभव त्रिकाल में
तोड़ देना सात तवे एक-एक मन का,
एक बाण मारके, थे वृद्ध जन कहते—
—"मैंने सुना काफिरों का एक ऐसा देश है
होती है फसल जहाँ मोतियों की खेतों में।
लाल और पन्ने फलते हैं सभी वृक्षों में,
सोने के पहाड़ और भूमि मखमल की,
खेलते हैं बच्चे वहाँ अंटे बना हीरा के।
दूध, मधु, घी की नदियाँ हैं—ढोर खाते हैं
मेवे, और दूध-मधु पीके रह जाते हैं,
पानी तो फक़त मरतों को दिया जाता है।
आँगन बुहारती हैं परियाँ बहिश्त की,
शेरनी के दूध पीते बच्चे छीन लेते हैं,
घुसकर माँद में—हैं बच्चे उस देश के,
ऐसे निर्भय वीर, सोचो जरा तुम भी।
यह राजा है उन्हीं काफिरों के देश का
फिर क्या असंभव है एक बाण मारके
तोड़ देना लोहे के तवों का— सात हाथी का
बल रखते हैं वहाँ एक-एक बाँह में।"

होकर अवाक् सभी श्रोता सुनते रहे
भरकर अंतर में घोर उत्सुकता।
आ गया प्रतीक्षित समय, सभी व्यग्र हो
दौड़ चले स्थान पाने को रंगशाला में।

दोनों ओर पथ के कतारबद्ध दर्शक
करते प्रतीक्षा हैं अधीर उद्ग्रीव हो।
वृक्ष पथ-पार्श्व के थे खूब ही लदे हुए
बच्चों और उत्सुक जनों से, रह-रहके
टूटती थीं डालें अर्राती हुईं वेग से।
भगदड़ मच जाती थी पर शीघ्र ही
दौड़ पड़ती थी भीड़ आगे, धूल झाड़के।
वातायन और छज्जियों से उत्सुक हो,
देखती थीं नारियाँ उलटकर झुकें,
मानो घटा दूर हुई, चाँद हँसे सैकड़ों।
एक दूसरी को थी दबोचकर झाँकती,
उन्नत उरोज जब-जब दब जाते थे,
गूँजती थी प्यारी ध्वनि मीठी सीत्कार की।
दौड़ सकती थी जो न भार लिये गर्भ का
वह धिक्कारती थी, मन में ही पति को।
रोगी, वृद्ध खाट पर रोते थे मलाल से,
आता था समय जैसे निकट विकल हो,
दौड़ते थे नागरिक शोर करते हुए।

दूर से सुनायी पड़ा घंटा-रव गज का,
सुन पड़े टाप घोड़ों के, तत्काल ही
घूमकर मोड़ से विशालकाय गिरि-सा
प्रकट गयंद हुआ मदमत्त झूमता।
सैकड़ों सवारों से घिरा था—अस्त्र-शस्त्रों की,

चमक निराली थी दिनेश के प्रकाश में,
अग्निकण मानो झरती हों शून्य नभ से।
पृथ्वीराज दीख पड़े बैठे गजराज पर
जैसे उदयाद्रि पर पूर्ण शशि बैठा हो।
चमक रही थीं बर्छियाँ ज्यों दिव्य तारे हों,
दिन में विभावरी का दृश्य अनुपम था।
बेड़ियाँ थीं पैरों में कसी थीं हाय, मुश्कें,
सीकड़ों से हौदे में बँधे थे—निरुपाय थे।
बाँध ऐरावत की पीठ पर इंद्र को
लंका में प्रवेश किया मानो इंद्रजीत ने।
सामने न कोई था सतर्क पीछे पीठ के
नंगी तलवारें लिये योद्धा चुने बैठे थे।
घेरे हुए हाथी को सवार थे चुने हुए
सावधान सब थे—थीं बर्छियों की अनियाँ
विवश महीपति की ओर ही तनी हुई।
सोचा जनता ने—"आह, गौरव है कितना
होना प्रजा ऐसे देवतुल्य नरनाह की।"
सोचा सैनिकों ने—"धन्य भाग उस सेना का
होगी जो अधीन ऐसे सिंह सेनानी के।"
सोचा वृद्धों ने—"बड़े पुण्य से ही अंत में
प्राप्त होता है जल ऐसे पुत्ररत्न का।"
सोचा युवकों ने—"यदि नेता मिले ऐसा तो
ठोकरों से धूल में मिला दें ब्रह्मांड को।"
पुत्रवतियों ने हाय, सोचा आह भरके—

"धन्य-धन्य कोख वह, धन्य वह दूध है,
धन्य वह गोद और धन्य वह जननी,
धन्य-धन्य सहना प्रसव-पीड़ा उसका।"
सोचा पतिवालियों ने—"धन्य वह सेज है,
धन्य वह सुंदरी सोहागिन है विश्व में,
पूजती थी ऐसे कंदर्प-दर्प-हर्ता को,
नित-विकसित-नेह-रूप के सुमन से।"
उस दिन से ही प्रेममत्ता सुकुमारियाँ,
निज प्रेमियों के रूप पर आर्यपुत्र का,
स्थापित स्वरूप कर कल्पना के बल से,
सुप्त रस-भावना को दीप्त करने लगीं।
मान लिया प्रतीक महाराज को
रूप, ओज, तेज़ का सहर्ष मुक्तकंठ से।
सारी भीड़ साथ गयी कोलाहल करती
सूनी हुईं सडकें, उदासी घनी छा गयी,
बंद हुए वातायन, खाली हुईं छज्जियाँ,
दृश्य गया बदल हठात् मानो जादू से।
चढ़कर ऊँची छत पर सुकुमारियाँ
देखती थीं—दूर पर बुर्ज दिखलाते थे,
मानो वे, सँभाल रखने के हेतु नभ को,
खंभे हों, सुनायी पड़ता था शोर, दूर से
सुन पड़ती हो जिस भाँति सिंधु-गर्जना।
कर दिया ताप किरणों का कम, छोह से,
देखके असूर्यम्पश्याओं को दिनेश ने।

त्रयोदश सर्ग

पार कर सात-सात फाटक भयावने
दुर्ग का है प्रांगण विशाल, परकोटे से
तीन ओर वेष्टित है, एक ओर गोरी का
गगन-विचुम्बित महान् प्रासाद है।
सिंहपौर रक्षित है संख्यातीत वीरों से,
खाई से घिरा हुआ है दुर्ग और नक्र हैं
उस जल-पूर्ण-दुर्लंघ्य महाखाई में।

बैठा सुलतान है सदर्प उच्च मंच पै,
मंत्रिवर्ग, पार्श्वचर घेरकर बैठे हैं,
जैसे रहता है घिरा यम, यमदूतों से,
अस्त्र-शस्त्र लेके अंग-रक्षक सतर्क हैं।
झूलते हैं मोतियों के पर्दे लुभावने,
ऊँची छज्जियों में, जहाँ बेगमों का दल है,
यों तो निस्तब्धता है बेगमों में, फिर भी

नूपुरों की, किंकणी की मीठी झंकार से
खिंच जाता है ध्यान उस ओर सबका।
होता है न साहस किसी को आँख भरके,
उस ओर देखने का—ऐसा आतंक है।

लटक रहे हैं तवे सात एक बुर्ज में
एक दूसरे के पीछे, लोहे की जंजीरों से।
एक ऊँचा आसन बिछा है रंगभूमि के
ठीक बीचोबीच—वहीं पृथ्वीराज बैठेंगे।
सामने धरी है भीम धन्वा और साथ ही
विशिख धरे हैं कई उत्तम फलक के।
जनश्रोत आ रहा है जैसे उमड़ी हुई
सागर की ओर चली सावन की सरिता।
आया गज लेके महाराज पृथ्वीराज को,
हो गये खड़े वे वहीं, जो-जो जहाँ बैठे थे।
गोरी भी हठात् अनजानते खड़ा हुआ,
बैठ गया लज्जित हो फिर तत्काल ही,
ऐसा व्यक्तित्व का प्रभाव था नरेंद्र के।
हर्ष-ध्वनि छा गयी—अधीर हुई जनता,
भीड़ को सँभालना असंभव था सेना को।
आये तब शाहजी प्रशांत धीर गति से
कम्बल लपेटे और प्रभु नाम जपते।
आसन से उतर स्वयम् सुलतान ने
सादर झुकाया शीश, टेककर घुटने,

और कहा—"गुरुदेव, हम कृत्यकृत्य हैं
पदरज पाके—आप मंच पर बैठिये।"
बोले शाह—"यों तो नहीं जाता किसी घर में
किंतु मैं बँधा हूँ सुलतान के सनेह से।
उचित यही है आप अपनी जगह पर
बैठें वह आसन तो आपके ही योग्य है।
रमता फकीर हूँ, न मान-अपमान की
चिंता मुझे—मेरी सभी लालसाएँ तृप्त हैं।
आसन ग्रहण करें आप, जरा घूमके
देखूँगा—थकूँगा तो कहीं भी बैठ जाऊँगा!"
"आज्ञा शिरोधार्य है"—कहा यों सुलतान ने,
शाह लगे रंगशाला घूमकर देखने।

खोलकर बंधन, सयत्न महाराज को
हाथी से उतारा गया, फिर बाँह धरके
उनको बिठाया गया मंच पर धीरे से।
शाह आये घूमकर और महाराज से
बोले शुद्ध प्राकृत में—"अब सावधान हो
लक्ष्यवेध कीजियेगा; दाहिनी तरफ ही,
बलिपशु बैठा है, न चूकियेगा फिर से।
एक बार चूके तो विनाश हुआ देश का,
इस बार चूके तो कुगति होगी देह की।"
बोले महाराज—"महाचंडी का भरोसा है,
धो दूँगा कलंक एक बाण से स्वदेश का।"

घोषणा की मंत्री ने खड़ा हो, उच्च स्वर में
"शांति ! आप देखिये, ये पृथ्वीराज बैठे हैं ।
जीतकर युद्ध में महान् सुलतान ने
बंदी बना लाया इन्हें—अब आप देखेंगे,
कैसा बलवान है हमारा शत्रु, युद्ध में
हमने हराया जिसे, आपकी मदद से ।
सहज नहीं था इस शेर का पकड़ना
घुसकर माँद में, जो एक ही तमाचे से
चूरकर डालता है मस्तक गयंद का ।
थे ये सम्राट कभी काफिरों के देश के,
किंतु आज कैदी हैं हमारे सुलतान के ।
सामने टँगे हैं तवे, सात-सात लोहे के
एक-एक मन भारी—एक बाण मारके
तोड़ देंगे राजा, इस वीरता को देखिये ।
अंधे हैं, परंतु शब्दवेधी बाण मारेंगे
सावधान होके आप देखें इस खेल को ।"
जल उठी छाती सुन बातें अपमान की
किंतु शांत बैठे रहे राजा मन मारके ।
चुप हुआ मंत्री तब खुद सुलतान ने
आज्ञा दी—"धनुष-बाण दे दो महाराज को ।"

पाते ही घृताहुति हठात् पूर्ण वेग से,
जिस भाँति जागती हैं सर्वभुक्, ज्वालाएँ,
विज्जु-सी तड़प उठती हैं, महाराज भी,

सहसा खड़े हुए धनुष लेते हाथ में ।
खौल उठा आर्यरक्त, भौंहें बंक हो गयीं,
पीछे हटे प्रहरी सशंक गोरी हो गया ।
दर्शक सभीत हुए, चीख उठीं बेगमें,
भयभीत बच्चे छिपे आँचल में माता के ।
एक बार सिंह-सा दहाड़ महाबाहु ने
वेग से झुका दिया प्रचंड कोदंड को,
प्रत्यंचा चढ़ाते वह टूट गया बीच से ।
देख बल-विक्रम अवाक् हुए दर्शक,
"दूसरा धनुष दो"—पुकार कहा शाह ने ।
इस भाँति आये कई धनुष परंतु वे
टूट गये सब, वज्रमुष्ठियों में पड़के ।
सोच कर बोला सुलतान—"साथ अपने
लाया था धनुष एक, राजा जयचंद से
भेंट में मिला था, आज तक किसी योद्धा ने
प्रत्यंचा चढ़ाई नहीं उस कोदंड की ।
ला दो वही"—दौड़ पड़े सेवक तुरंत ही,
आया महाचाप मानो चाप हो सुरेंद्र का,
रत्नमय, सुंदर, सुदीर्घ, शुभ दर्शन ।
लेते ही तुरंत पहचान लिया वीर ने
बार-बार चूमके लगा लिया हृदय से
मानो मिला कोई देशबंधु दूर देश में ।
प्रत्यंचा चढ़ाके, एक बार टंकार के,
बोले आर्यपुत्र—"मुझे बाण अब चाहिए

अच्छे फौलाद के दो—और एक कंकड़ी
मार दो तवे पर—करूँगा लक्ष्यभेद मैं।"

भीषण फलकवाले बाण दो नरेंद्र को
चुनकर शाह ने स्वयम् दिये हँसके
और कहा—"आर्यपुत्र, बस क्षण भर में
धुल जाता है पाप-पंक आर्य जाति का।
अचल सोहाग होगा आज महारानी का,
राज्य हो अचल आर्यपुत्र रैणसी का,
यश दें भवानी कवि जल्ह को, सुखी हुआ
आज मैं, समस्त परिताप मिटा मन का।
सावधान होके शब्दवेधी बाण मारिये,
मैं हूँ खड़ा आपके ही पार्श्व में—ये बाण हैं।"
लेके बाण पैंतरे बदल महाबाहु ने
ध्यान किया केंद्रित, सतर्क किया कानों को
मारी गयी कंकड़ी—तवे से झंकार का
शब्द गूँजा, घूमकर, तत्काल वीर ने
मारा बाण, खींचकर कान तक धनु को,
सातो तवे टूटे तड़ातड़ एक साथ ही।
चीख उठा गोरी तब उल्लसित कंठ से
—"वाह-वाह", और सुन शब्द "वह-वाह" का,
मारा बाण दूसरा नरेंद्र ने पलटके,
छिद गया कंठ गोरी का, वह मंच से,
प्राणहीन होके गिरा—हाहाकार छा गया।

बाण चला वेधता अनेक हतभागों को,
फिर घुसा तोड़कर वज्र दीवार में,
लोहे और पत्थर के घोर संघर्ष से
आग के भभूके वहाँ निकले भभकते।
"जय हो आर्यभूमि की"—दहाड़ उठे शाहजी,
कांड ज्ञान-शून्य भागे दर्शक विकल हो।
भाग चले मंत्री, भगी भीत सेना चीखती,
खूँद दिये टाप से भड़ककर घोड़ों ने
भागते हुओं को—दुर्ग-रक्षक ने दुर्ग के
बंद किये द्वार, गति देख नहीं दूसरी;
कूद पड़े कुछ दर्शक परकोटे से,
डूब मरे खाई के विषाक्त गंदे जल में;
खा लिया अनेकों को पकड़कर नक्र ने।
होके क्रुद्ध मत्त गज, इस उत्पात से,
टूट पड़ा भीड़ पर, घोर चिग्घाड़ता,
दुर्ग लगा काँपने—प्रलय-कांड हो गया।
बोला कवि चंद "शत्रु मारा गया; लीजिये,
यह तलवार है, प्रहार करें मुझ पर,
और मैं प्रहार करूँ आप पर"—कवि ने
बाहर निकाले दो कृपाण, फेंक कम्बल।
चमक उठीं दो क्षणदायें क्षण भर में,
नीचे गिरे दोनों वीर कटकर साथ ही।

× × ×

आँगन से उठके घटाएँ, नगराज के,

भरकर शीतल सलिल, मुक्तिदायिनी—
पुण्य-तोया-गंगा का, उमड़ती चली गयीं
उस रंगशाला पर ; पुत्र आर्यभूमि के
सो रहे जहाँ थे दोनों भूमि पर शांति से ।
निद्राभंग होने का विचार कर मन में,
चुपचाप बरसीं बिचारी, बिना गरजे,
आयीं चुपचाप, चुपचाप ही चली गयीं ।

× × ×

शेष कर राज-काज भारत अधीश्वरी,
बैठ गयी जाके उद्यान में थकी हुई ।
साथ में था रेणसी कुमार, पाँच वर्ष का,
जैसे हो शकुंतला के साथ बाल रवि-सा,
भरत कुमार, सुरगान के विपिन में ।
आ रही थी त्रिविध बयार सुखदायिनी,
कूजते थे खग, स्वच्छ सर में सरोजों की
सुभग छटा थी, राजहंसों का समूह था
तैरता—चतुर्दिक सुरम्य सुषमायी थी ।
ऋतु अनुकूल फूल और मीठे फल से
वृक्ष परिपूर्ण थे—प्रशांत उपवन था,
शिशु के नयन-सा सुनील, स्वच्छ नभ था ।
बैठी महारानी संयोगिता उदास सी
मर्मर-गठित एक सीढ़ी पर ताल के,
दोनों पैर डाल कर शीतल सलिल में ।
बैठ गया रेणसी निकट जाके माता के

मानो 'कर्मवीरता' के पास 'पूर्ण धैर्य' हो।
बैठते ही आँखें हुईं बंद महारानी की
अंग पड़े शिथिल, हुईं वे हतचेत-सी,
क्षण भर बाद लगीं दिव्य दृश्य देखने—

—नील नभोदेश में मा भारत-वसुंधरा
दीख पड़ीं, बैठी कोकनद पर मोद में।
आर्यपुत्र और कवि चंद मातृक्रोड़ में
बैठे हैं, प्रकाशपूर्ण देव-रूप धर के;
मानों गणराज और कार्तिकेय बैठे हों
गोद में भवानी के—विचित्र वह दृश्य था।
फिर दिखलायी पड़ा नीचे, छिदा बाण से
निष्प्राण होके सुलतान है पड़ा हुआ।
देखा यही दृश्य रैणसी ने, वह भीत हो,
चीख उठा—जाग गयीं रानी संयोगिता,
खींच के छिपा लिया हृदय में कुमार को।

एकाएक देखा यही दृश्य कविरानी ने
पति-पद-पादुका की पूजा करती हुई।
जल्ह ने भी देखा यही दृश्य, जब ध्यान से
वह संलग्न था पिता के महाकाव्य को
पूर्ण करने में—लिखकर शेष सर्ग की
शेष पंक्ति—श्रद्धायुक्त नाम ले भवानी का।

SPS

89
H